श्री गणधरवाद काव्यम्

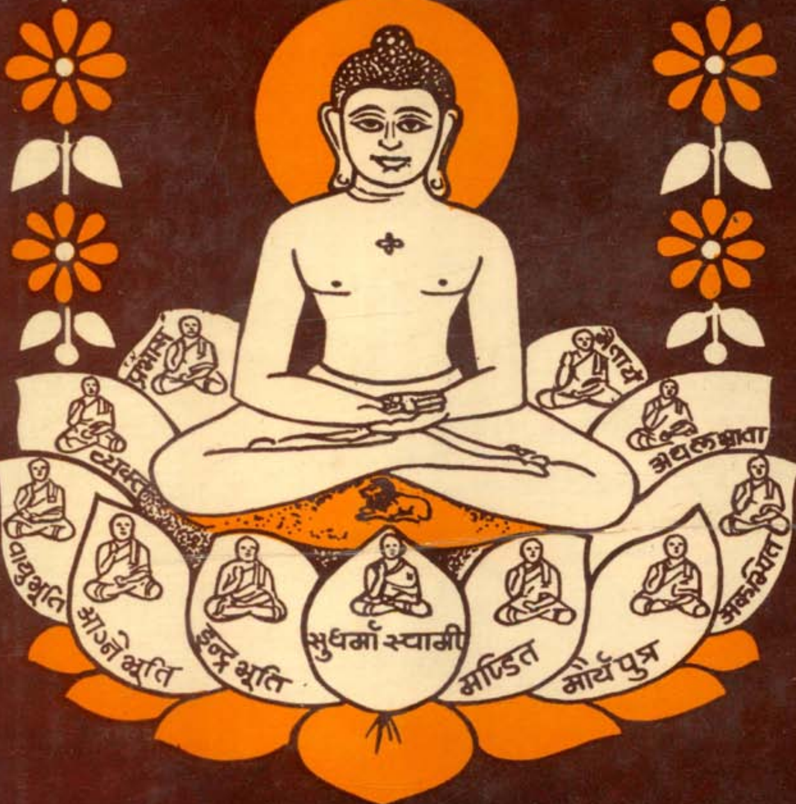

— कर्त्ता —

पूज्याचार्य श्रीमद् विजय सुशीलसूरिः

B. PANCHAL

१. श्रीगणधरवादकाव्यम् १–१३६
२. श्रीगणधरवादः १–५६
३. श्रीगणधरवाद १–१४६
• अनुपम शासन-प्रभावना १४७–२०६

卐 श्रीगौतमस्वामीछन्द 卐

श्रीवीरवाक्यात् प्रगतः प्रभाते,
यो देवशर्मा - प्रतिबोधनाय ।
प्रातः समायन् किल केवलीत्वं,
तं गौतमं भव्यजना भजध्वम् ॥१॥

दीपोत्सवे योजितपाणिपद्मैः,
सुरासुरेशैर्विनयावनम्रे ।
यदङ्घ्रिपद्मं प्रणत प्रसद्य
तं गौतमं भव्यजना भजध्वम् ॥२॥

यस्य प्रभावाद् वरहस्तसिद्धेः,
प्राप्नोत्यवश्यं स्वविनेयवर्गः ।
कैवल्यज्ञानमनन्यशक्ते,
तं गौतमं भव्यजना भजध्वम् ॥३॥

यन्नामजापो जगति प्रतीतो-ऽ,
भिष्टार्थसिद्धि सकलां प्रदत्ते ।
कल्पद्रुकल्पं प्रणमद् जनानां,
तं गौतमं भव्यजना भजध्वम् ॥४॥

इत्थं स्तुतो वीरजिनेशशिष्यः,
मुख्यो मया कोविदवृन्दवन्द्यः ।
दीपालिकाया दिवसे गणीन्द्रः
सङ्घेऽनघे मङ्गलमातनोतु ॥५॥

□ □ □

श्रीनेमि-लावण्य-दक्ष-सुशील ग्रन्थमाला रत्न ७३ वाँ

श्रमणभगवतां श्रीमहावीरस्वामितीर्थङ्कराणां श्रुतकेवलीनां
श्रीगौतमस्वामिप्रमुखगणधराणां संस्कृतपद्यमयं

श्रीगणधरवादकाव्यम्

[संस्कृतगणधरवादयुक्तं, हिन्दीगणधरवाद सहितं च]

❖ विरचितं ❖

शासनसम्राट्-सूरिचक्र चक्रवर्त्ति-तपोगच्छाधिपति - महान्
प्रभावशाली परमपूज्याचार्य महाराजाधिराज **श्रीमद्
विजयनेमिसूरीश्वराणां** पट्टालङ्कार - साहित्यसम्राट् -
व्याकरण-वाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्न-परमपूज्य
आचार्यप्रवर श्रीमद् विजयलावण्यसूरीश्वराणां
पट्टधर-शास्त्रविशारद-कविदिवाकर-व्याकरणरत्न-
परमपूज्याचार्यवर्य **श्रीमद् विजयदक्षसूरीश्वराणां**
पट्टधर - शास्त्रविशारद - साहित्यरत्न - कविभूषण
आचार्य श्रीमद् विजयसुशीलसूरिणा

— प्रकाशकम् —

आचार्यश्रीसुशीलसूरिजैनज्ञानमन्दिरम्
शान्तिनगर, सिरोही (राजस्थान)

प्रेरक :

जैनधर्मदिवाकर-शासनरत्न - तीर्थप्रभावक-परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजयसुशील सूरीश्वरजी म. सा. के पट्टधर - शिष्यरत्न सुमधुरभाषी पूज्य उपाध्यायजी महाराज श्रीविनोदविजयजी गणिवर्य

सम्पादक :

राजस्थानदीपक - मरुधर-देशोद्धारक-शास्त्रविशारद परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. के विद्वान् शिष्यरत्न सुमधुर प्रवचनकार पूज्य मुनिराज श्री जिनोत्तमविजयजी म.

श्री वीर सं. २५१३ विक्रम सं. २०४३ नेमि सं. ३८

प्रतियाँ — १००० प्रथमावृत्तिः मूल्य २५ रुपये

卐 मंगलकारी - स्तुति 卐

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमप्रभुः ।
मङ्गलं स्थूलभद्राद्याः, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥१॥

उपसर्गाः क्षयं यान्ति, छिद्यन्ते विघ्नवल्लयः ।
मनः प्रसन्नतामेति, पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥२॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याण कारणम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥३॥

प्रकाशक :

आचार्य श्री सुशीलसूरि जैन ज्ञान मन्दिर
शान्तिनगर, सिरोही
राजस्थान

मुद्रक :

ताज प्रिण्टर्स
जोधपुर
राजस्थान [मारवाड़]

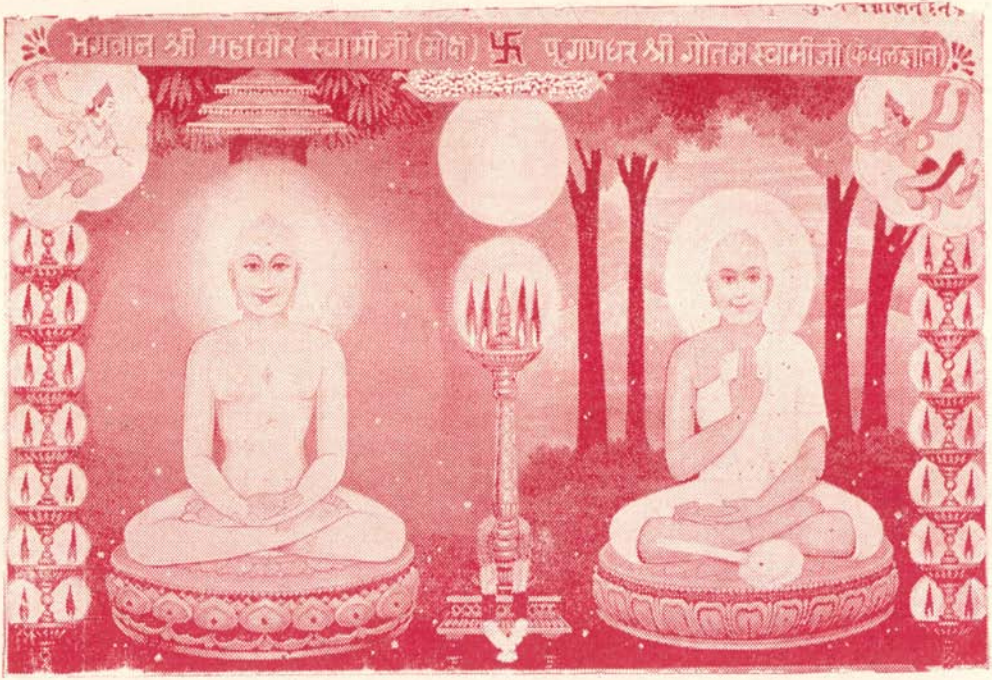

श्रमण भगवन्त श्री महावीर स्वामी ❀ श्रुतकेवली श्री गौतम गणधर

श्रमण भगवान महावीर के प्रथम
गणधर श्री गौतम स्वामी महाराज

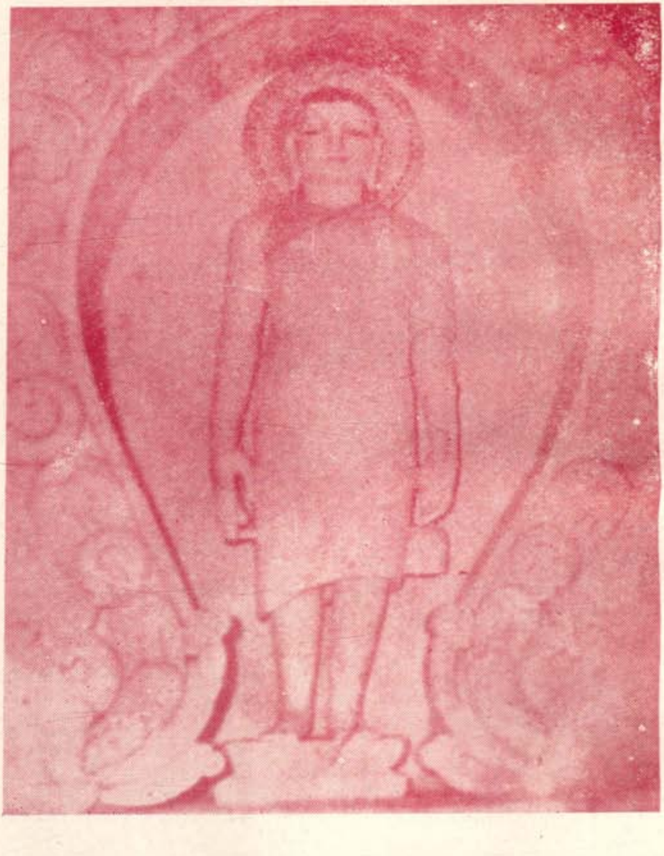

ध्यानस्थ मुद्रा

समर्पण . . .

देवाधिदेव-सर्वज्ञविभु-वर्त्तमानजिनशासनाधिपति

विश्ववन्द्य - जगत्पूज्य

श्रमण भगवान् महावीर परमात्मा के

मुख्य शिष्यरत्न-प्रथम गणधर-अनन्तलब्धिनिधान

श्रुतकेवली-महान् आगमशास्त्रों के मूल

श्रीद्वादशाङ्गी के प्रणेता परमपूज्य-प्रातःस्मरणीय

श्रीइन्द्रभूति - गौतमस्वामी महाराजाधिराज को

उनके २५०० वर्ष समापन की

पुण्य - स्मृति में

यह

" **श्रीगणधरवादकाव्यम्** "

ग्रन्थरत्न

सादर समर्पित करता हुआ

मैं अत्यन्त आनन्दित होता हूँ।

— विजय सुशीलसूरि

卐 आश्चर्यंकारी घटना 卐

विश्ववंद्य विश्वविभु श्रमण भगवान श्री महावीर परमात्मा के मुख्य अन्तिषद्-शिष्यरत्न और प्रथम गणधर श्रीगौतम स्वामीजी महाराजा का अद्भुत जीवन-कवन एक आश्चर्यंकारी घटना रूप ही है।

पूज्य महाआगम श्रीकल्पसूत्र की सुबोधिका टीका में अनंतलब्धिनिधान श्रुतकेवली श्री गौतम स्वामी जी के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—श्री गौतम स्वामीजी का सब कुछ, सारा ही जीवन विचित्र है।

"अहङ्कारोऽपि बोधाय, रागोऽपि गुरुभक्तये।
विषादः केवलायाऽभूत्, चित्रं श्रीगौतमप्रभोः।।

'अहङ्कारोऽपि बोधाय'—अहंकार भी बोध के लिए, **'रागोऽपि गुरुभक्तये'**—राग भी गुरुभक्ति के लिए, **'विषादः केवलायाऽभूत्'**—विषाद यानी खेद भी केवलज्ञान का कारण बना।

इसलिये **'चित्रं श्रीगौतमप्रभोः'** श्री गौतम प्रभु का अर्थात् श्री गौतमस्वामी गणधर भगवन्त का जीवन-कवन चित्रमय-आश्चर्यंकारी घटना रूप बना।

ऐसे अनन्तलब्धिनिधान श्रुतकेवली श्रीगौतम स्वामीजी गणधर भगवन्त के २५००वें निर्वाणोत्सव के उपलक्ष में उनको हमारा कोटि-कोटिशः वन्दन हो।

—विजय सुशीलसूरि

भूमिका

'श्री गणधरवाद काव्यम्' के रचयिता जैनधर्म दिवाकर, राजस्थान-दीपक, शास्त्रविशारद पूज्य जैनाचार्य श्रीमद् विजय सुशीलसूरीश्वरजी महाराज हैं जिन्होंने जैन वाङ्मय के प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय आख्यानों को सरस और सरल हिन्दी भाषा में निरूपित करके जनता को अहिंसा और प्रेम का पीयूष पिलाया है। इस महर्षि ने श्री जिनेश्वर भगवान की वाणी को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त करके महत् उपकार किया है जिसकी प्रशंसा करने के लिए मेरे पास न तो शब्द हैं और न शैली ही है; **अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम।**

श्री गणधरवाद जैन वाङ्मय का लोकविश्रुत आख्यान है जिस पर अनेकानेक जैन, जैनेतर विद्वानों ने सुन्दर एवं विशद टीकाएँ तथा भाष्य लिखे हैं।

काव्यम् का कथाप्रसंग : श्री महावीर प्रभु अपापापुरी पधारे। उसी समय उस नगरी के धनाढ्य ब्राह्मण सोमिल ने अपने विशाल यज्ञ को सम्पन्न करने के लिए इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह वेदज्ञ पण्डितों को आमन्त्रित किया। उसी समय पण्डितों ने यज्ञ-मण्डप के समीप से भगवान महावीर की धर्म-सभा में जाते हुए अपार जनसमूह को देखा। इन्होंने तुरन्त निर्णय किया कि वे शास्त्रार्थ में भगवान महावीर को पराजित करेंगे। वे क्रमशः अपने ज्ञान-गर्व में फूले हुए भगवान की धर्मसभा (समवसरण) में प्रविष्ट हुए। सर्वज्ञ भगवान ने न केवल उनको नाम सहित सम्बोधित किया अपितु उनके मन में शल्य के समान चुभरही शंकाओं को भी

प्रकट किया। ये वेदज्ञ पण्डित आश्चर्य-विभूत हो गए। प्रभु ने इनकी शंकाओं का समाधान करते हुए कहा कि 'वेद-ऋचाओं' का सही अर्थ नहीं जानने के कारण ही ये शंकाएँ उत्पन्न हुई हैं। 'संशयात्मा-विनश्यति'—वेदज्ञ पण्डितों को प्रथम बार यह ज्ञात हुआ। उनकी गर्व-गठरी नीचे गिर गई और वे हलके-फुलके बिस्मित होकर करुणासागर प्रभु के चरण-कमलों में श्रद्धावनत हुए। ये सभी भगवान महावीर के शिष्य हुए। श्रमण भगवान महावीर के ये ग्यारह गणधर द्वादशांगी और चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता हुए तथा समस्त गणिपिटक के धारक हुए।

इस सुप्रसिद्ध आख्यान को जैनाचार्य श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी महाराज ने मनोवैज्ञानिक शैली में आलेखित किया है। 'श्री गणधरवाद काव्यम्' में आत्मा, पुण्य-पाप, कर्म-सिद्धांत स्वर्ग, नरक, मोक्षादि दार्शनिक विषय हैं जिनको श्रीमद् जैनाचार्य ने प्रांजल और सरल भाषा में निरूपित किया है।

'श्री गणधर काव्यम्' के विभाग : पूज्यश्री ने इस ग्रन्थ की रचना इस प्रकार की है कि इसका विद्वद्वृन्द और सामान्यजन समान रूप से रसास्वादन कर सकते हैं। ये विभाग क्रमशः हैं—संस्कृत-पद्य, संस्कृत गद्यानुवाद तथा हिन्दी-व्याख्या। ये तीनों विभाग—गंगा, यमुना एवं सरस्वती के संगम तीर्थराज प्रयाग के समान पवित्र हैं जो जनमानस में सद्भाव प्रस्फुटित करते हैं।

इस 'काव्यम्' का रसास्वादन करने पर काव्य-विषयक यह उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है :

'काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थप्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ।'

—आचार्य वामन : काव्यालंकार १/१/५

[अर्थात् सत् काव्य का दृष्ट प्रयोजन प्रीति है और अदृष्ट प्रयोजन कीर्ति है।]

'श्री गणधर काव्यम्' के रचनाकार का उद्देश्य है, 'जगत् के सभी प्राणी प्रीति-सूत्र में गुम्फित हो जाएँ, सब सुखी हों, मानव में मानवता का प्रकाश प्रदीप्त हो, दानवता का नाश हो, घृणा पर प्रेम की, लोभ पर सन्तोष की, मान (अहंकार) पर विनय की और क्रोध पर क्षमा की विजय हो। 'श्री गणधर काव्यम्' कृति में यह उद्देश्य दर्पणवत् प्रतिबिम्बित है।

शैली : आचार्यश्री का त्रिविध कविरूप भाव, भाषा और शैली के रंग-बिरंगे फलक पर चित्रित हुआ है। देववाणी संस्कृत में रचित काव्य-शैली की रमणीयता निहारिये :

जयतु जयतु भास्वत् केवलानन्दनन्दी,
विकसितसकलार्थः दीप्तपुण्यप्रतापः।
तुरियपथप्रयोक्ता विश्ववन्द्योदयश्रीः,
भवतु शिवगुणानां वर्द्धमानः जिनेन्द्र ॥१॥

[मङ्गलाचरणम्]

इसमें थोड़े से शब्दों में विभु की समस्त विभुता, विश्ववंद्यता, माङ्गल्य, अनन्त करुणा आदि का पूर्ण चित्र प्रकट हुआ है। इससे अंग्रेजी के महान् कवि मिल्टन की काव्यविषयक यह परिभाषा सही प्रतीत होती है कि 'महाकवि की सफलता इसी में है कि वह थोड़े से शब्दों में महानतम बात कह सके।'

पूज्य जैनाचार्य गुजराती भाषाभाषी हैं, परन्तु उन्होंने 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' भाव से हिन्दी में अनेक ग्रन्थ रचे हैं और

अनवरत रच रहे हैं। 'श्री गणधरवाद काव्यम्' से उनकी हिन्दी-शैली का एक नमूना यहाँ प्रस्तुत है।

'पहले गणधर श्री इन्द्रभूति गौतम ने सम्पूर्ण ९२ वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके श्री महावीर परमात्मा के निर्वाण के बारह वर्ष बाद मगध देश की राजगृही नगरी के वैभारगिरि पर सकल कर्म का क्षय करके निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया।

जैनाचार्य महाकवि श्रीमद् सुशीलसूरिजी ने संस्कृत पद्य का सरल संस्कृत में गद्यानुवाद किया है। एक झलक देखिए—

"विश्ववन्द्यो विश्वविभुः श्रीसिद्धार्थनृपकुलदीपकस्त्रिशलादेवी-नन्दनः काश्यपगोत्रीयः वर्तमानशासनाधिपतिश्चरमतीर्थङ्करो देवाधिदेवः श्रमण भगवान् श्री महावीर.।"

दर्शनविषयक रुक्षता को सरस शैली में निरूपित करना दुष्कर है, परन्तु यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि पूज्यपाद जैनाचार्य ने रुक्ष विषयों को अत्यन्त सरसता से उद्घाटित किया है।

आचार्यश्री की दुर्बल देहयष्टि में दधीचि ऋषि की वज्रता देखकर यह सहज अनुमानित हो जाता है कि उनकी तेजस्विता उनकी रचनाओं में अनेकविध उद्भासित हुई है। उनकी कोमलता के दर्शन उनकी सौम्य आकृति में ही नहीं होते वरन् उनके साहित्य में शाश्वत सम्पदा के रूप में होते हैं।

उनका 'श्रीगणधरवादकाव्यम्' अन्य साहित्यिक एवं दार्शनिक रचनाओं की तरह स्वच्छ दर्पण है जिसमें उनके जीवन में विद्यमान मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं का निर्मल प्रतिबिम्ब झलकता है। उनके दर्शन से नयनों को तृप्ति

होती है, उनकी वाणी अमृतधारा के समान मानव-हृदय में प्रवाहित होती है जिससे अनन्त जन्मों की मोहनिद्रा विलुप्त हो जाती है और जीवन नवजागरण के अरुणोदय को निहारकर आनन्द सागर की उत्ताल तरंगों में अठखेलियाँ करता हुआ जिनेश्वरदेव की भक्ति में रंग जाता है।

'श्रीगणधरवादकाव्यम्' की सरसता में अभिवृद्धि परमपूज्य ग्यारह गणधरों की प्रशस्ति में रचित बहुश्रुत मुनि भगवन्तों और कवि मनीषियों की स्तुतियों, चैत्यवन्दन-स्तवन-गीतों के समावेश के कारण विशेष रूप से हुई है। इससे भक्ति की पयस्विनी जनमानस को आनन्दोल्लास से आप्लावित कर देती है। दर्शन की रूक्षता सरसता की चाशनी में पगकर मधुरतम बन गई है।

जैनाचार्य इस युग के महान् साहित्य-सर्जक हैं। वे लोकमंगल की पुनीत भावना से साहित्य-साधना में प्रविष्ट हुए हैं। उनके अन्तर्मन का उल्लास जिनेन्द्रभक्ति की सहस्र धाराओं में उनकी रचनाओं में प्रवाहित है। जो पुण्यशाली पाठक इन रचनाओं का श्रवण-पठन करता है, वह प्रसन्नचित्त वीतराग के चरण-कमलों में समर्पित हो जाता है— **मनः प्रसन्नतामेति पूज्यमाने जिनेश्वरे।**

पूज्य आचार्यदेव की लेखनी अपनी रचनाओं द्वारा विश्व-मंगल के असंख्य दीप प्रज्वलित करती रहे, जिनके प्रकाश में मोह-ग्रसित जीव अज्ञानांधकार से त्राण पा सकें।

आसोज सुद १०
[विजयादशमी]
शुक्रवार
दिनांक २-१०-८७

चरण-चञ्चरीक
जवाहरचन्द्र पटनी
एम.ए.(हिन्दी, अंग्रेजी) बी.टी.
फालना (राजस्थान)

उपादेय

विद्वान् जैनाचार्य श्रीसुशीलसूरीश्वरजी महाराज द्वारा अनूदित एवं मौलिक भावानुवाद युक्त यह **'गणधरवाद'** रचना अत्यन्त श्रेष्ठ एवं प्रत्येक तत्त्ववेत्ता एवं मुमुक्षु के लिये उपादेय ग्रन्थ है।

जहाँ हमारे मनोजन्य प्रश्नों का निराकरण हो जाय ग्रन्थियों का छेदन हो जाय, वहीं हमें सच्चे आत्मज्ञान की प्राप्ति होनी प्रारम्भ हो जाती है।

गणधरवाद में भी पण्डितप्रवर ग्यारह विद्वान् ब्राह्मणों के जन्म-मरण, स्वर्ग-नरक, मोक्ष-पूर्वभव तथा पुण्य एवं पाप के विषय में जिज्ञासापूर्ण सन्देह थे जिनका वेदपदों के द्वारा ही प्रभु ने निराकरण कर उनको आत्मज्ञान के प्रति दीक्षित किया था। भगवान महावीर वेदों के अर्थ की गवेषणापूर्वक व्याख्या करने वाले थे।

छिन्नंमि संसयंमी जाइजरामरणविप्पमुक्केणं ।
सो समणो पव्वइतो तिहिं उसहखंडिय सएहिं ।।

आज भी इस भौतिक युग तथा विज्ञान के युग में इन्हीं प्रश्नों के बारे में मनुष्य में भ्रम है और सच्चे ज्ञान के अभाव में मनुष्य दुःखी है ।

आचार्यश्री ने भाषा में एवं संस्कृत में सटीक विश्लेषण कर बहुत ही सरल शैली में इन्हीं प्रश्नों को प्रभु की वाणी में सरलता से अभिव्यक्त किया है ।

आपके सच्चे ज्ञान एवं आपकी गहन शास्त्रीय विद्वत्ता के कारण इन गम्भीर प्रश्नों का सरलीकरण हुआ है ।

तत्त्वग्रन्थ होते हुए भी **'गणधरवादकाव्य'** अपनी सरसता और सरलता के कारण साधारण से साधारण पाठक को भी गूढ़ ज्ञान की जानकारी देने में सक्षम है ।

भाषा का प्रवाह संस्कृत तथा हिन्दी दोनों में ही सहज आकर्षक है तथा शास्त्रीय एवं तत्त्वपरम्पराओं का सम्पूर्ण ज्ञान कराता है ।

आपके अनेक ग्रन्थों से पाठक परिचित होंगे ही । यह

रचना अत्यन्त समयानुरूप है, उपादेय है और आध्यात्मिक बुभुक्षा के लिये अमृत भोज्य के समान है।

इति शुभम् ।

पं. श्रीहीरालाल शास्त्री एम.ए
भाग्योदय ज्योतिष सदन
विद्यादेवी निवास
राजेन्द्रनगर, जालोर (राज.)

विजयादशमी
दिनांक २-१०-८७

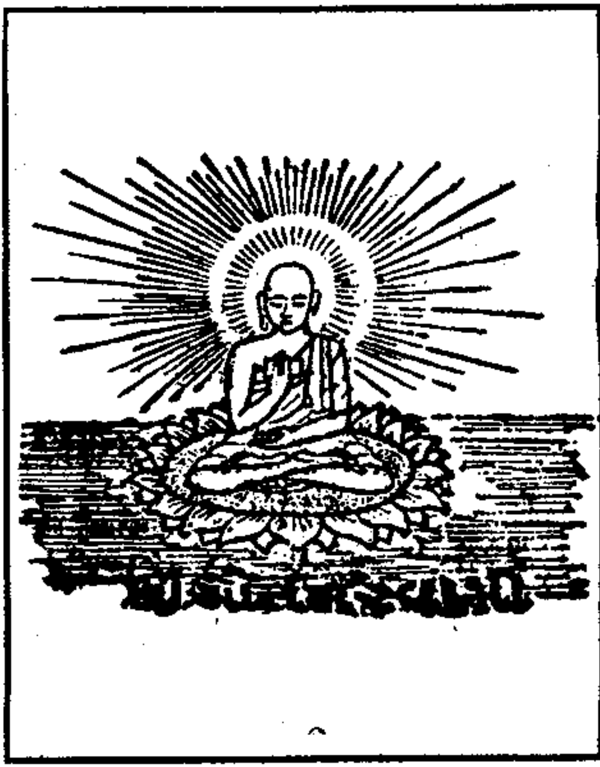

शासनसम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्त्ति-तपोगच्छाधिपति-
भारतीय भव्यविभूति-ब्रह्मतेजोमूर्ति-महाप्रभावशाली

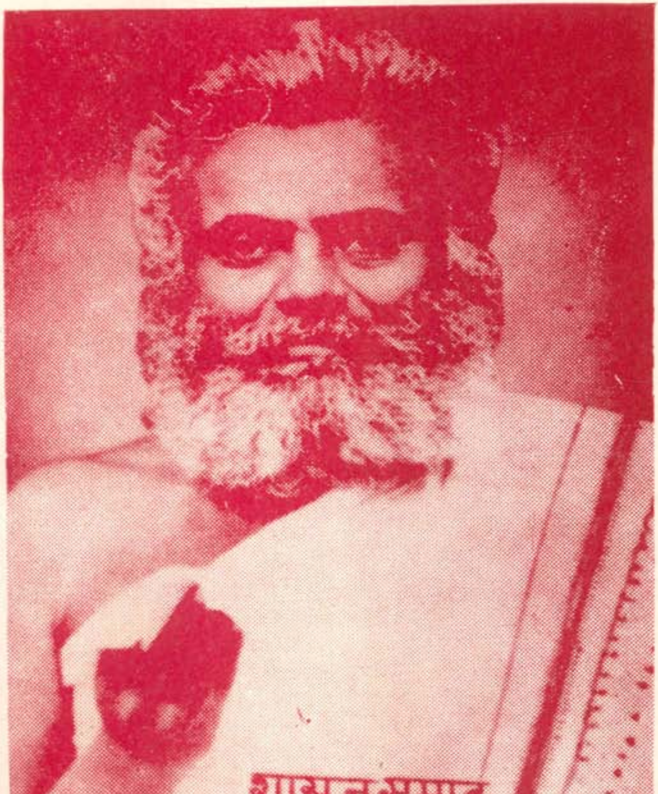

स्वर्गीय परमपूज्याचार्य महाराजाधिराज
श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरजी म० सा०

परमशासनप्रभावक-साहित्यसम्राट् व्याकरणवाचस्पति
शास्त्रविशारद-बालब्रह्मचारी-कविरत्न

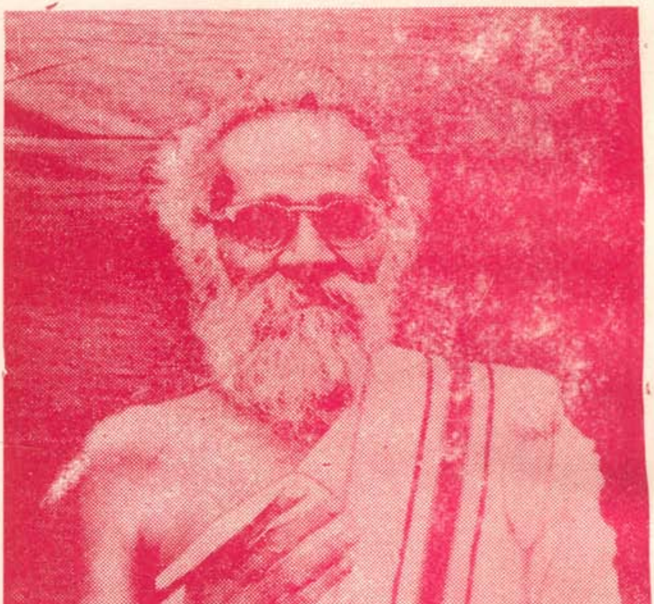

स्वर्गीय परमपूज्याचार्यप्रवर
श्रीमद् विजयलावण्यसूरीश्वरजी म० सा०

धर्मप्रभावक-व्याकरणरत्न-शास्त्रविशारद
कविदिवाकर-देशनादक्ष-बालब्रह्मचारी

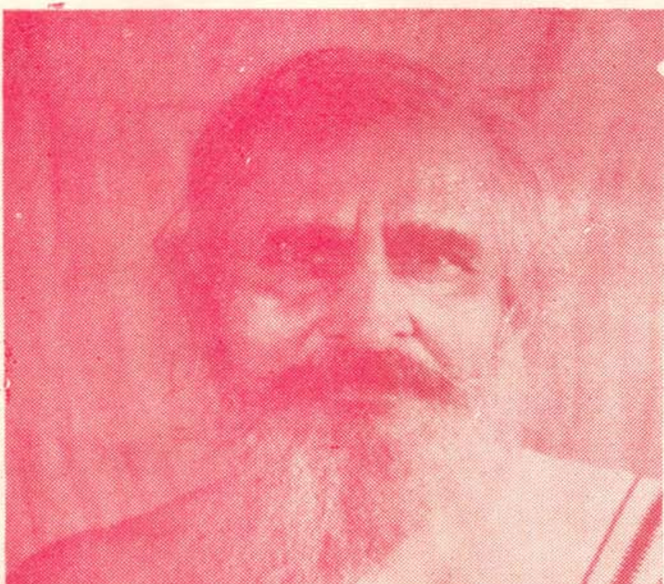

परमपूज्य आचार्यदेव
श्रीमद्विजयदक्षसूरीश्वरजी म० सा०

जैन धर्म दिवाकर

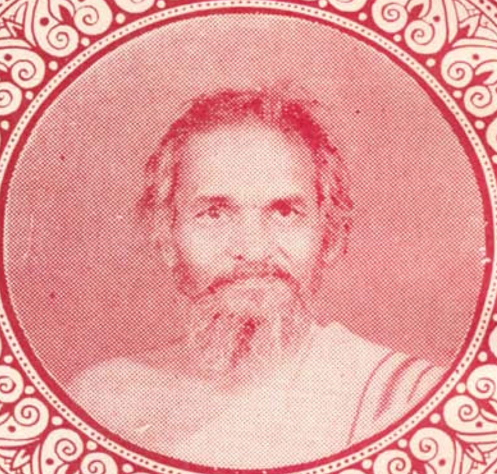

प.पू. आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय सुशीलसूरीश्वरजी म.सा.

साहित्यसम्राट् प. पू. आचार्यदेव
श्रीमद् विजय लावण्य सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न

स्व. पू. उपाध्याय श्री चन्दन विजयजी गणिवर्य म०

जैनधर्मदिवाकर प. पू. आचार्य भगवन्त
श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. के
पट्टधर शिष्यरत्न

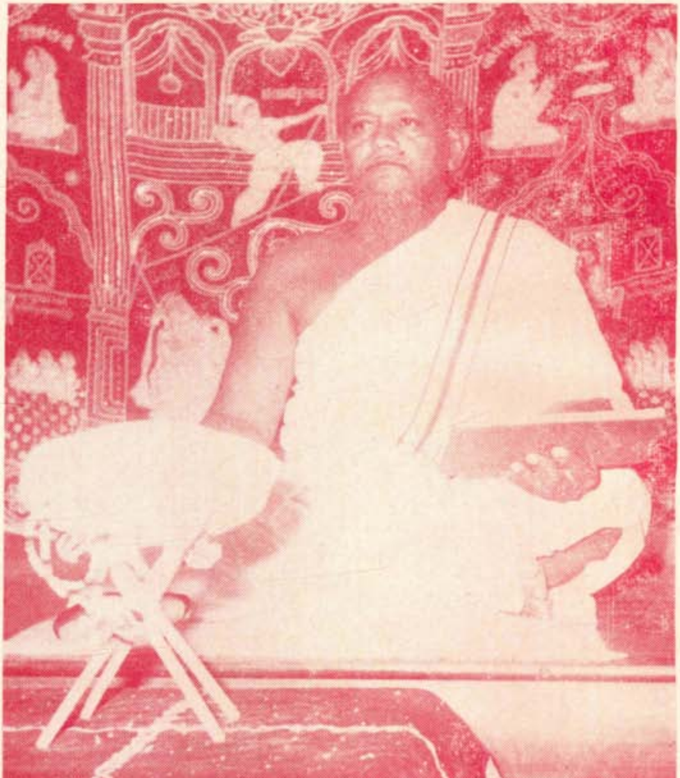

पू. उपाध्याय श्री विनोद विजयजी गणिवर्य

राजस्थान-दीपक प. पू. आचार्य भगवन्त
श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. के शिष्यरत्न

पू. मुनिराज श्री जिनोत्तम विजयजी म.

स्वर्गीय श्री रतिलाल जेठालाल सलोत, दाठागाँव

की पुण्य स्मृति में शा. खान्तिभाई सलोत एवं परिवार ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में प्रमुख द्रव्य-सहयोग प्रदान किया है ।

पू. उपाध्याय श्री चन्दनविजयजी गणिवर्य

संसार के भोग रोग हैं, शरीर नाशवान् है, आत्मा अमर है, इस बात की प्रतीति जिस भव्यात्मा को हो जाती है, वह संसार की तृष्णा में नहीं फँसता।

ऐसा पुण्य-प्रसंग आया श्री चिमनभाई के जीवन में कि प. पू. शासनसम्राट् के पट्टधर साहित्यसम्राट् प. पू. श्रीमद् विजय लावण्यसूरीश्वरजी म. सा. छानी पधारे। चिमनभाई ने उनके उपदेश से प्रभावित होकर वि. सं. १९९७ में भागवती दीक्षा ली। उनके साथ मुनि श्री विबुधविजयजी ने भी दीक्षा ली। श्री चिमनभाई का मुनिनाम चन्दनविजय रखा गया। ये मुनिराज प. पू. आचार्य श्रीमद् विजय लावण्यसूरीश्वरजी म. सा. के शिष्य हुए।

इन्हें पंन्यास पद बोटाद में गुरुदेव पूज्य आचार्य श्रीमद् विजय लावण्यसूरीश्वरजी म. सा. के कर-कमलों द्वारा प्रदान किया गया। इन्हें उपाध्याय पदवी राजस्थान-दीपक आचार्य श्रीमद् विजय सुशीलसूरीश्वरजी म. सा. द्वारा नाडोल में प्रदान की गई। इनके साथ ही मुनिराज श्री विनोदविजयजी को भी उपाध्याय पद से अलंकृत किया गया।

ये मुनिराज ज्ञान-ध्यान-तप की आराधना में सदा लीन रहते थे। इन्होंने ४५ वर्धमान तप, वर्षीतप, नवपद ओली तप आदि आनन्दपूर्वक सम्पन्न किये।

असाता वेदनीय कर्म के कारण ये मुनि भगवन्त अनेक वर्षों से रुग्ण रहे, परन्तु अपनी शारीरिक वेदना को समभाव ने सहन करते हुए संयम-पालन में अप्रमत्त रहे। सिरोही जैन संघ ने इन महाराज श्री की पूर्ण रूप से सेवा-भक्ति की। श्री जैनसंघ को कोटिशः धन्यवाद।

वि. सं. २०४३, पौष वद १०, भगवान् पार्श्वनाथ प्रभु के जन्म कल्याणक दिन को ये महात्मा कालधर्म को प्राप्त हुए। अरिहन्त प्रभु का जाप करते हुए, समभाव में रमण करते हुए इन्होंने पार्थिव शरीर छोड़ा। इनकी

शान्ति के लिए परम कृपालु जिनेश्वरदेव से हम प्रार्थना करते हैं। इनके शिष्यरत्न मुनिराज श्री रत्नशेखर विजयजी म. सा. सरल स्वभावी हैं।

राजस्थान-दीपक, जैनधर्म-दिवाकर प. पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. दिवंगत उपाध्यायजी म. सा. के गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। 'गुणेहिं साहू'। सचमुच सद्गुणों से विभूषित उपाध्यायजी म. थे।

—जवाहरचन्द्र पटनी, फालना

अवश्य पढ़ें ! ॥ ॐ ह्रीं अर्हं नमः ॥ पढ़कर ज्ञान प्राप्त करें !

मानव जीवन में आध्यात्मिक चेतना के सजग प्रहरी, जीवन में सुसंस्कारों की सौरभ प्रवाहित करने वाले

卐 'सुशील सन्देश' मासिक पत्र में 卐

आप क्या पढ़ेंगे ?

- जीवन में गुनगुनाहट कराने वाले गीत-संगीत-कविता —**काव्य कुञ्ज**
- जैन संस्कृति की गौरव गाथा गाने वाली मधुर शिक्षाप्रद कहानियाँ —**पढ़ो और पाओ**
- प्रकाशित पुस्तक-ग्रन्थों की समीक्षात्मक टिप्पणी —**साहित्य समीक्षा**
- पाठकों के विविध विचार —**प्रतिक्रिया-मत-सम्मत**
- जैन तत्त्वज्ञान की विशद जानकारी हेतु स्वाध्याय प्रश्नोत्तरी —**समाधान के आयाम**
- सुवचनों का अपूर्व संग्रह —**अनमोल मोती**
- ज्योतिष की दृष्टि में आपका मासिक भविष्य —**जोग-संजोग**
- जैन संस्कृति की भव्य परम्परा का परिचयात्मक इतिहास —**जैन परम्परा का इतिहास**
- शासन प्रभावना के विविध अनुमोदनीय समाचार —**धन्य जिनशासन**

इन स्थायी स्तम्भों के अतिरिक्त विविध लेख, ऐतिहासिक कहानी आदि का प्रकाशन होता है। समय-समय पर मन लुभावने नयन-रम्य विशेषांकों का भी प्रकाशन होता है।

शुल्क विवरण

एक वर्ष	पाँच वर्ष	आजीवन
रु. ३१)	१२५)	३११)

विज्ञापन प्रति पृष्ठ

टाइटल	साधारण	आधा
रु. ४००)	३००)	१५०)

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार :

C/o सुशील सन्देश प्रकाशन मन्दिर
सुराणा कुटीर, रूपाखाना, बस स्टेण्ड के पास
मु. सिरोही–३०७ ००१ (राजस्थान)

इस ग्रन्थ के द्रव्यसहायकों की शुभ नामावली

(१) परमपूज्य-शासनसम्राट् समुदाय के आज्ञावर्त्तिनी स्वर्गीया-प्रवर्तिनी पूज्य साध्वी **श्री सौभाग्यश्रीजी म.** की शिष्या पूज्य साध्वी **श्री गुलाबश्रीजी म.** की शिष्या पूज्य साध्वी **श्री गुणश्रीजी म.** की शिष्या पूज्य साध्वी **श्री प्रवीणाश्रीजी म.** की शिष्या पूज्य साध्वी **श्री रयणयशाश्रीजी म.** (संसारी अवस्था की सुपुत्री) के सदुपदेश से, गुजरात-सौराष्ट्र-दाठागाँव के निवासी **स्वर्गीय सलोत श्री रतिलाल जेठालाल** के स्मरणार्थ उनकी **धर्मपत्नी श्रीमती धीरजबहिन** तथा **सुपुत्र शा. खान्तिभाई, जितेन्द्रभाई, प्रदीपभाई** तथा **हरीशभाई** आदि सलोत परिवार।

(२) श्री नाकोड़ातीर्थोद्धारक स्वर्गीय परमपूज्य आचार्य **श्रीमद् विजय हिमाचल सूरीश्वरजी म. सा.** के समुदाय के आज्ञावर्त्तिनी पूज्य साध्वी **श्री शान्तिश्रीजी म.** तथा उनकी शिष्या पूज्य साध्वी **श्री** **जी म.** के सदुपदेश से, राजस्थान-मारवाड़ सुप्रसिद्ध श्री राणकपुरतीर्थ निकटवर्त्ति सादड़ीशहर की बहिनों का नया उपाश्रय।

(३) जैनधर्मदिवाकर परमपूज्य आचार्य **श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा.** के विद्वान् शिष्यरत्न पूज्य मुनिराज **श्री जिनोत्तम विजयजी म.** के शिष्यरत्न पूज्य मुनिराज **श्री रविचन्द्र विजयजी म.** के सदुपदेश से, राजस्थान-मारवाड़-बागोल का श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ।

(४) शास्त्रविशारद परमपूज्य आचार्य **श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा.** के सदुपदेश से गुजरात-चाणस्मा श्री जैनसंघ पेढ़ी।

(५) **शा. सुरेशकुमार घेवरचन्दजी नागोत्रा सोलंकी,** नांदी गाँव राजस्थान।

प्रकाशकीय-निवेदन

'श्रीगणधरवादकाव्यम्' (संस्कृतश्लोक - पद्यमयम्) **'श्रीगणधरवादः'** (संस्कृतभाषामयः) तथा **'श्रीगणधरवाद'** (हिन्दी भाषामय) एवं श्रीगणधर जीवन-तालिका (हिन्दी भाषामय) **युक्त** ऐसे इस नाम से समलंकृत यह अनुपम ग्रन्थ, विश्ववन्द्य विश्वविभु **श्रमणभगवान महावीर** परमात्मा के मुख्य अन्तिषद् एवं प्रथम गणधर श्रुतकेवली **श्रीइन्द्रभूति-गौतमस्वामी महाराजा** के २५०० वर्ष समापन की पुण्य-स्मृति में प्रकाशित करते हुए हमें अतिआनन्द हो रहा है।

इस ग्रन्थ के प्रणेता परमपूज्य शासनसम्राट् समुदाय के सुप्रसिद्ध जैनधर्मदिवाकर-शासनरत्न-तीर्थप्रभावक-राजस्थान-दीपक - मरुधरदेशोद्धारक - शास्त्रविशारद - साहित्यरत्न-कविभूषण-बालब्रह्मचारी पूज्यपाद **आचार्यदेव श्रीमद्विजय-सुशीलसूरीश्वरजी म. सा.** हैं। अनंतलब्धिनिधान **श्रीगौतमस्वामीजी गणधर महाराजा** के २५०० वर्ष समापन की पुण्य स्मृति के उपलक्ष में **'श्रीगणधरवादकाव्य'** की

रचना करने की भावना आपके अन्तःकरण में स्फुरायमान हुई। पूज्य श्रीकल्पसूत्र सुबोधिका टीका, विशेष-आवश्यक सूत्र प्रमुख तथा गणधरवाद सम्बन्धी प्रकाशित थयेल विविध साहित्य का अवलोकन करने के बाद, मुख्यरूप में श्रीकल्पसूत्र सुबोधिका टीका आदि का आलम्बन लेकर आपने **'श्रीगणधरवादकाव्य'** संस्कृतश्लोक में रचना प्रारम्भ किया। साथ में **'गणधरवाद'** संस्कृत गद्य में तथा हिन्दी भाषा में भी आलेखन कार्य शुरू किया। अहर्निश सर्जन कार्य में मग्न रहते हुए आपश्री ने श्रीदेव-गुरु-धर्म के पसाय से यह कार्य शीघ्र पूर्ण किया।

इस ग्रन्थ को शीघ्र प्रकाशित करने की सत् प्रेरणा करने वाले परमपूज्य आचार्य म. सा. के पट्टधर-शिष्यरत्न-मधुरभाषी संयमी **पूज्य उपाध्यायजी महाराज श्रीविनोद-विजयजी गणिवर्य** हैं।

इस ग्रन्थ का सम्पादन कार्य करने वाले पूज्यपाद आचार्य म. सा. के विद्वान् शिष्यरत्न-कार्यदक्ष **पूज्य मुनिराज श्रीजिनोत्तमविजयजी म.सा.** हैं।

इस ग्रन्थ का **उपादेय** लिखने वाले जालोर निवासी **पण्डित श्रीहीरालालजी शास्त्री** एम. ए. हैं। ग्रन्थ के

स्वच्छ, शुद्ध एवं निर्दोष प्रकाशन का कार्य **डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी** की देख-रेख में सम्पन्न हुआ है।

ग्रन्थ की **भूमिका** लिखने वाले प्रोफेसर **श्री जवाहर-चन्द्रजी पटनी** कालन्द्री वाले वर्त्तमान में फालना में निवास करते हैं।

पूज्यपाद आचार्य म. सा. की आज्ञानुसार हमारे प्रेस सम्बन्धी प्रकाशन कार्य में पूर्ण सहकार देने वाले जोधपुर निवासी **श्री सुखपालचन्दजी भंडारी** तथा संघवी **श्री गुणदयालचन्दजी भंडारी** एवं **श्री मंगलचन्दजी गोलिया** आदि हैं।

सिरोहीनिवासी **श्री नैनमलजी सुराणा** तथा विधि-कारक **श्री मनोजकुमार बाबूमलजी हरण,** एम. कॉम इत्यादि ने भी इस ग्रन्थ को शीघ्र प्रकाशित करने की प्रेरणा की है।

इन सभी का हम हार्दिक आभार मानते हैं। ग्रन्थ-प्रकाशन में योगदान करने वाले सभी सद्गृहस्थों का भी हम आभार मानते हैं।

—प्रकाशक

卐 श्रीनेमि - लावण्य - दक्ष - सुशीलग्रन्थरत्नमाला रत्न ७४वाँ 卐

श्री गणधरवादः

[संस्कृत श्लोक]

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

— प्रणेता —

आचार्य श्रीमद् विजय सुशीलसूरि महाराज

卐

श्रीगणधरवादकाव्यम्

(संस्कृतपद्यमयम्)

विषयानुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ सं.
ॐ	मङ्गलाचरणम्	११	१
१	प्रथमश्रीइन्द्रभूति-गौतमस्वामी गणधरः	३६	४
२	द्वितीयश्रीअग्निभूतिगणधरः	२२	१२
३	तृतीयश्रीवायुभूतिगणधरः	१८	१७
४	चतुर्थश्रीव्यक्तगणधरः	१३	२१
५	पञ्चमश्रीसुधर्मगणधरः	११	२४
६	षष्ठश्रीमण्डितगणधरः	१२	२७
७	सप्तमश्रीमौर्यपुत्रगणधरः	११	३०
८	अष्टमश्रीअकम्पितगणधरः	१५	३३
९	नवमश्रीअचलभ्रातागणधरः	१६	३७
१०	दशमश्रीमेतार्यगणधरः	१०	४१
११	एकादशमश्रीप्रभासगणधरः	१६	४४
१२	प्रशस्तिः	२८	४९

श्रीगणधरजीवन-तालिका

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
卐	ग्यारह गणधरों की नामावली	५३
१	पहले गणधर श्रीइन्द्रभूति	५४
२	दूसरे गणधर श्रीअग्निभूति	५६
३	तीसरे गणधर श्रीवायुभूति	६३
४	चौथे गणधर श्रीव्यक्त	६७
५	पाँचवें गणधर श्रीसुधर्मा	७२
६	छठे गणधर श्रीमण्डित	७७
७	सातवें गणधर श्रीमौर्यपुत्र	८१
८	आठवें गणधर श्री अकम्पित	८५
९	नौवें गणधर श्रीअचलभ्राता	८९
१०	दसवें गणधर श्रीमेतार्य	९३
११	ग्यारहवें गणधर श्रीप्रभास	९८
१२	उपसंहार	१०२
१३	**११ गणधरों के देववन्दन**	१०४
१४	श्रीजिनेश्वराष्टकम्	१२९
१५	श्रीगणधराष्टकम्	१३१
१६	श्रीगौतमस्वाम्यष्टकम्	१३३
१७	श्रीगौतमस्वामीजी का छन्द	१३४
१८	श्रीमद् विजयनेमिसूरीश्वर स्तुत्यष्टक	१३५

श्रीमद्वीरजिनेन्द्राणां गौतमादिगणाधिपाः ।
श्रीगणधरवादानां सूत्रागमानुसारिभिः ।।
वर्णनं काव्यरूपेण क्रियते कृतिभिः मया ।
बालानां ज्ञानबोधार्थं, श्रीमद्सुशीलसूरिणा ।।

卐 ॐ ह्रीँ अर्हँ नमः 卐

॥ वर्तमानशासनाधिपति-श्रीमहावीरस्वामिने नमः ॥

॥ अनन्तलब्धिनिधानाय श्रीगौतमस्वामिने नमः ॥

॥ शासनसम्राट्श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वराय नमः ॥

॥ साहित्यसम्राट्श्रीमद्विजयलावण्यसूरीश्वराय नमः ॥

श्रीगणधरवादकाव्यम्

मङ्गलाचरणम्

जयतु जयतु भास्वत् केवलानन्दनन्दी,
विकसितसकलार्थः दीप्तपुण्यप्रतापः ।
तुरियपथप्रोक्ता विश्ववन्द्योदयश्रीः,
भवतु शिवगुणानां वर्द्धमानः जिनेन्द्रः ॥ १ ॥

एवं जरामरणसंशयजीवसिद्धेः,
नानाप्रमाणकथनैः हि सुतुष्टिमाप।
शिष्यैः स्वपञ्चशत दीक्षयितो निपूर्णा,
ज्ञानाय गौतमगणं प्रणमामि तञ्च ॥ २ ॥

श्रीरिन्द्रभूतिरनुजो सुधीयोऽग्निभूतिः,
वीरेण वञ्चनकृतं किल चिन्तिताप।
तस्यापि कर्मविषये शमिता कुशङ्का,
तं नौम्यहं शुभधिया विनतोऽग्निभूतिम् ॥ ३ ॥

स्याद्वादबीजं त्रिपदीं विचार्य,
जीवादिशङ्कारहिता बभूवुः।
ये लब्धिलक्ष्मीनिधया शिषन्ति,
कुर्वन्तु सिद्धिं गणधारिणस्ते ॥ ४ ॥

श्वेतवर्णां स्थितां पद्मे, वीणापुस्तकधारिणीम्।
श्रुतदेवीं सदा स्तौमि, सम्यग्ज्ञानप्रदायिनीम् ॥ ५ ॥

येषामीक्षणतोऽपि यान्ति विपुलं भाग्योदयं सज्जनाः,
न्याय-व्याकरणादि-शास्त्ररचना-नैपुण्यभाजां वरम्।
तीर्थोद्धारधुरन्धरं गुरुवरं सद्ब्रह्मचर्याञ्चितं,
वन्देऽहं तपगच्छनायकवरं, तं नेमिसूरीश्वरम् ॥ ६ ॥

अनल्पे ग्रन्थौघे सुनिपुणधिया शास्त्रनिपुणं ,
कवीनां रत्नं व्याकरणवरवाचस्पतिमिति ।
सुविद्वद्वृन्दालि-स्तुतविबुधतं सद्गुरुगुणं ,
स्तुवे तं सूरीशं प्रगुरुवरलावण्यमुनिपम् ।। ७ ।।

पूज्यं धर्मप्रभावकं सुविहितं संविग्नगीतार्थकं ,
स्याद्यन्तादि सुसर्जकं गुणनिधिं सुब्रह्मचारी सदा ।
रत्नं व्याकरणे कवौ दिनकरं सद्देशनादक्षकं ,
वन्दे शास्त्रविशारदं शुभगुरुं तं दक्षसूरीश्वरम् ।। ८ ।।

एतच्च मङ्गलं कृत्वा, देव-गुरु-प्रसादतः ।
वाचकश्रीविनोदस्य, शिष्यया गणिनोऽपि वै ।। ९ ।।

श्रीमद्वीरजिनेन्द्राणां, गौतमादिगणाधिपाः ।
श्रीगणधरवादानां, सूत्रागमानुसारिभिः ।। १० ।।
वर्णनं काव्यरूपेण, क्रियते कृतिभिः मया ।
बालानां ज्ञानबोधार्थं, श्रीमद्सुशीलसूरिणा ।। ११ ।।

प्रथम श्रीइन्द्रभूति-गौतमस्वामी गणधरः

सर्वज्ञदेवो जिनवर्द्धमानः,
पुरीमपायां निकषा सुरम्ये ।
महत्यरण्ये महसेननाम्नि,
तीर्थप्रवृत्त्यै कृतवान् विहारम् ॥ १ ॥

निशम्य तं तत्र वने वसन्तं,
विद्वान् द्विजो गौतमनामधेयः ।
यस्यापरं नाम किलेन्द्रभूति-
रगादसौ तत्-प्रभुदर्शनार्थी ॥ २ ॥

दृष्ट्वा तमीशोऽवददिन्द्रभूतिं,
आगच्छ ते स्वागतमस्तु भद्र ! ।
अस्ति त्वदीये हृदि संशयो यद्,
जीवोऽस्ति वा नैव तदीय सत्ता ॥ ३ ॥

अपाकरिष्ये तमहं द्विजेन्द्र !,
निशामयध्यानपरो हि भूत्वा ।
सर्वज्ञतायां मम संशयं त्वं,
मा धा ततो ज्ञास्यसि तत्त्वबोधात् ॥ ४ ॥

मोक्षोऽस्ति ते चेतसि यद् विरुद्धो ,
हार्थोऽविरुद्धोऽप्यवभासतेऽत्र ।
पित्तेन दग्धासि यदीय जिह्वा ,
कट्वीं सितां वक्ति स रसाभावात् ॥ ५ ॥

यथा घटोऽक्ष्णोः किल सन्निकर्षाद् ,
ज्ञातो भवत्येव हि तत् प्रमातुः ।
तथा न जीवस्त्वधगम्यतेऽतः ,
प्रत्यक्षमस्यास्ति नहि प्रमाणम् ॥ ६ ॥

धूमेन लिङ्गेन यथा प्रमाता,
महानसे पश्यति नूनमग्निम् ।
दृष्ट्वा ततः भूभृति धूमरेखां ,
तत्राऽनुमानं कुरुतेऽनलस्य ॥ ७ ॥

लिङ्गं न जीवस्य तथा तु किञ्चिद् ,
विलोकितं केनचिदत्र लोके ।
मन्येत लिङ्गं यदि चेतनाऽस्य ,
न साऽपि दृष्टेः सरणि प्रयाता ॥ ८ ॥

तथोपमानं न भवेत् प्रमाणं ,
वस्त्वत्र लोके नहि जीवतुल्यम् ।
न चाप्तवाक्यानि तु साधनानि ,
परस्परं तेषु महान् हि भेदः ॥ ९ ॥

बृहस्पतिर्वक्ति न किञ्चिदत्र ,
भूतानि रिक्तं किल वस्तु जातम् ।
वदन्ति वेदा अपि तद्वदेव ,
ह्युत्पद्य विज्ञानघनोऽन्तमेति ।। १० ।।

असौ च विज्ञानघनो मृदापो ,
वायुः कृशानुश्च न भिन्न एभ्यः ।
नैतेषु जीवो नहि जीव एते ,
तस्मान्न जीवः किल सिद्धिमेति ।। ११ ।।

केचिच्च वेदार्थविदो वदन्ति ,
स्वर्गेच्छुकोऽग्नि जुहुयात् सदैव ।
जडानि भूतानि प्रियाप्रियाणि ,
चेच्छन्ति वेदेषु विरोध एषः ।। १२ ।।

शून्यत्ववादे परमप्रवीणाः ,
बौद्धाः जगच्छून्यमुदाहरन्ति ।
उत्पद्य भूतानि हि यान्ति नाशं ,
तस्मान्न वै सिद्ध्यति जीवसत्ता ।। १३ ।।

इत्थं त्वदीये हृदयेऽस्ति शङ्का ,
तामिन्द्रभूते ! वितनोमि नष्टाम् ।
सिद्धान्ततः त्वं शृणु सावधानः ,
जीवस्य सिद्धौ गदितं प्रमाणम् ।। १४ ।।

प्रत्यक्षतश्चेतसि वेद्यमानं,
सुखं तथा दुःखमिदं सुसिद्धम्।
तद्वत् प्रमाणान्तर साध्यताऽत्र,
नापेक्ष्यते गौतम! जीवसिद्धौ ॥ १५ ॥

मन्यस्व मैवं यदियं प्रतीतिः,
देहेऽस्ति तस्मादयमेव जीवः।
इत्थं यदि स्यात् तु मृते शरीरे,
प्रतीतिरेषा न कथं द्विजेन्द्र! ॥ १६ ॥

तथा त्वदीये हृदि जीवभावे,
यः संशयश्चोत्थितवान् गुणोऽयम्।
विज्ञाननामा गुणिनं विहाय,
कमाश्रितः स्याद् वद विप्रवर्य! ॥ १७ ॥

देहस्तु मूर्त्तत्वजडत्वभावात्,
गुणी न युक्तः खलु संशयस्य।
तस्माद् गुणी सिद्धयति जीव एवा-
मूर्त्तत्वभावादजडत्वभावात् ॥ १८ ॥

प्रत्यक्ष एवास्ति गुणोऽम्बरस्य,
शब्दः परं व्योम कथं परोक्षम्।
न शङ्कितव्यं द्विजराज! चैवं,
शब्दो गुणः पौद्गलिको न खस्य ॥ १९ ॥

गुणग्रहे यन्मनसा गृहीतं,
प्रत्यक्षमेतद् विशदावभासम् ।
न केवलं चाक्षुषमेव विद्धि,
प्रत्यक्षमव्याप्तिरहो ! भवित्री ।। २० ।।

पुष्पस्य गन्धो नहि नेत्रबोध्यः,
जलस्य शैत्यं नहि तेन गम्यम् ।
गुडस्य माधुर्यमजस्य वाणी,
न चाक्षुषे हन्त ! विडम्बनैषा ।। २१ ।।

अहं प्रतीत्या खलु जीवसिद्धिः,
यथा तवाग्रे गदितेन्द्रभूते ! ।
स्वरूपवच्चान्यकलेवरेऽपि,
तं चिन्मयं विध्यनुमानतस्त्वम् ।। २२ ।।

अक्षाणि नित्यं परचालितत्वात्,
इमान्यथाहुः करणानि विज्ञाः ।
स्वतन्त्रमेषां हि नियामकं कं,
जीवं विना वक्ष्यसि गौतम ! त्वम् ।। २३ ।।

संघातरूपस्य कलेवरस्य,
स्वाम्यस्ति जीवस्त्वनुमीयमानः ।
तनोश्च भोग्यत्वत एष एव,
भोक्तानुमित्या किल साध्यमानः ।। २४ ।।

विहाय सत्तामिह वस्तुनः स्यात् ,
न संशयस्थोद्भव इन्द्रभूते ! ।
अस्तित्वमाश्रित्य हि सर्परज्ज्वोः ,
उत्पत्तिरिष्ट ! खलु तस्य विद्वन् ! ॥ २५ ॥

सद्भावमादाय च संशयस्य ,
ह्यात्मप्रतीतिं मनसावगच्छ ।
नास्तित्वशङ्का क्रियते तु केन ,
वन्ध्यासुतस्यात्र विचक्षणेन ॥ २६ ॥

इत्थं त्वया भद्र ! विचार्य सम्यक् ,
आत्मानुमानेन विबोधनीयः ।
वेदे विरोधं च यमीक्षते त्वं ,
तमप्यलं मे गदतो निरस्य ॥ २७ ॥

ज्ञानस्य तद्वत् किल दर्शनस्यो-
पयोगमाहुः विबुधाः महान्तः ।
विज्ञानमित्येव तयोऽस्तु सन्धं ,
घनं च विज्ञानघनोऽयमुक्तः ॥ २८ ॥

उत्पत्तिमत्वात् खलु भूतसंघात् ,
स द्रव्यपर्याय इति प्रसिद्धः ।
उत्थाय चान्तेऽनुविलीयते च ,
ततोऽस्य न प्रेत्य भवेद् हि संज्ञा ॥ २९ ॥

नामान्तरस्योद्भवतो द्विजेन्द्र ! ,
शरीरपर्यायमताविभौ च ।
उत्पत्ति-नाशौ हि अशीरमेनं ,
वसन्तमुक्त्वा च वदन्ति वेदा ।। ३० ।।

ध्रुवत्वमस्यात्मन इन्द्रभूते ! ,
ततः श्रुतेरर्थमवेहि भद्र ! ।
विरोधहीनं मनसि स्वकीये ,
मन्यस्व सत्तामथ देहिनोऽस्य ।। ३१ ।।

तथा च वेदान्तिभिरात्मनोऽस्य
यदैक्यमुक्तं तदवेहि विप्र ! ।
लिङ्गस्य भेदेन विभिन्नरूपं ,
तस्मादनेकाः खलु जीवभेदाः ।। ३२ ।।

विश्वस्य शून्यं विवदन्त एते ,
विदन्ति बौद्धाः ननु शून्यमेव ।
तस्मान्न सिद्धान्तत एष मार्गः ,
मनास्वभिर्मन्यतया ग्रहीतः ।। ३३ ।।

न वस्तु धर्मः किल निश्चयत्वात् ,
अयं भवेदित्थमयं न वेति ।
पर्यायतः स्वापरयोर्हि वस्तु ,
सर्वं भवेत् सर्वमयं जगत्याम् ।। ३४ ।।

विवेकरूपेण विवक्षया तु,
जानाह्य सर्वं किल वस्तु सर्वम् ।
अतो हि सामान्य-विशेषभावात्,
वाच्यः पदार्थे जगतीन्द्रभूते ! ॥ ३५ ॥

इत्थं तर्कयुताः प्रभो सुविशदा आकर्ण्य वाचो द्विजः,
बोधं तत्क्षणमीयिवान् स्वहृदये जीवेऽस्तशङ्कोऽभवत् ।
सर्वज्ञत्वमथेशतां च जगतामालोच्य वीरे ततः,
सार्धं पञ्चशतैः स्वकीयबहुभिश्चारित्र-दीक्षो दधौ ॥ ३६ ॥

॥ इति श्रीगणधरवादकाव्ये प्रथमेन्द्रभूति-
गणधरस्य वर्णनम् ॥

द्वितीयश्रीअग्निभूतिगणधरः

वाण्यां बृहस्पतिसमं विदुषां वरेण्यं ,
श्रुत्वाऽग्रजं जिनपदेन गृहीतदीक्षम् ।
तस्याऽनुजोऽतिमतिमानभिधाऽग्निभूतिः ,
चिन्ताव्यथाहतमना अकरोद् विलापम् ॥ १ ॥

बन्धोः पराजयसमुत्थितरोषभावः ,
शिष्यैः वृतोऽम्बर स्वपञ्चमितैः स्वकीयैः ।
तत्रैव सोऽपि गतवान् स्वमताभिमानी ,
यस्मिन् वने जिनवरः कृतवान् विहारम् ॥ २ ॥

यावद् गतः प्रभुमसौ जिन आह तावत् ,
ते स्वागतं भवतु भूमिसुराऽग्निभूते ! ।
त्वं चाऽपि बन्धुवदलं त्यज संशयं स्वं ,
श्रुत्वेति सोऽपि निजचेतसि विस्मितोऽभूत् ॥ ३ ॥

नूनं महापुरुष एष समस्तवेत्ता ,
अस्त्यन्यथा परमनोगतमाह कस्मात् ।
मत्संशयस्य च लयोऽपि भविष्यतीति ,
चित्ते विचार्य नहि किञ्चिदुवाच विप्रः ॥ ४ ॥

आलोक्य तं च तदवस्थमयं महात्माऽ-
वोचद्द्विजेन्द्र ! तव संशय एवमस्ति ।
किं कर्म नो भवति गोचर इन्द्रियाणां ,
स्याद् वेति मे शृणु वचोऽत्र कृतावधानः ।। ५ ।।

हे विप्र ! ते प्रकटमस्ति यदेव वस्तु ,
सम्यक्तया प्रकटभावमुपैति मे तत् ।
केनापि चेच्छरभसिंहगजाः न दृष्टाः ,
तेषामभाव इह भूमितले किमस्ति ।। ६ ।।

प्रत्यक्षमेतदधुना शृणु साम्प्रतं च ,
चित्तेऽनुमानमपि धारय वह्निभूते ।
हेतुः फले तनुवतां ननु दुःखसौख्ये ,
यस्तं विभावय विचक्षण ! कर्म नान्यत् ।। ७ ।।

सौख्यस्य रम्य रमणी रमणादिकं तु ,
दुःखस्य पण्डितवरेण्य ! विषादिकं च ।
चेत्कारणं त्वमवगच्छसि दृष्टमेव ,
कस्मात् फले विषमता घटते तथाहि ।। ८ ।।

रोगाः भवन्ति रमणी-परिभोगतोऽपि ,
तेषां अपथ्य खलु सेवनतो विषाणाम् ।
एवं विलोक्य मतिमन् किल कल्पनीयं ,
किञ्चिद्ध्यदृष्टमपि कारणभग्निभूते ! ।। ९ ।।

यः साधनेषु सकलेषु समेषु सत्सु,
भेदः फले भवति कारणयो गतो वै।
गौरेषु बन्धुषु समेषु यः कृष्ण एकः,
संदृश्यतेऽत्र विषयाशनमेव हेतुः ॥ १० ॥

ब्रूषे तु कारणमिदं यदि दृष्टमेव,
विद्वांस्तदात्र पतति व्यभिचारदोषः।
तत् कार्मणं ननु शरीरमुदीर्यतेऽत्र,
यत् स्यात् भवान्तरविधानसहायभूतम् ॥ ११ ॥

यस्माद् विनान्य तनु सम्भव एव नास्ति,
एवं विचारय विवेकधिया स्वचित्ते।
मूर्त्तं विहाय ननु मूर्त्तमिद हि वस्तु,
सार्द्धं तु केन वद गच्छतु नैजयोगम् ॥ १२ ॥

सा का क्रिया फलवती न भवेद् द्विजेन्द्र!,
या चेतनेन विहिता न हता यदि स्यात्।
तस्माच्छुभाशुभकृतेः परिणाम एव,
कर्मोच्यते कृषिकृतेरिवधान्यमार्य ॥ १३ ॥

कीर्त्तिस्तु दानफलमस्तु पशोर्वधस्य,
मांसाशनं फलमिति त्वयका विचार्य।
धान्यं यथा विबुध! दृष्टफलेव नोह्या,
एषा क्रियात्र शृणु मे गदतो हि वाचम् ॥ १४ ॥

दृष्टं विनश्यति फलं किल कालयोगात् ,
कस्माद् भवाटनमहो ! घटतेऽस्य जन्तोः ।
एतद् विचार्य मनसा विमलेन विप्र ,
जानीह्य दृष्टमपि सौम्य ! फलं त्वमत्र ॥ १५ ॥

सैव क्रिया फलति किं ननु यत् फलस्य ,
लिप्सां करोति तनुभृन्मनसि स्वकीये ।
पीडां स्वबन्धनकृतां किल चौर्यकर्मा-
निच्छन्नपीह लभते बत ! दण्डमुग्रम् ॥ १६ ॥

कर्मेदमस्तु परमेतददृष्टमूर्त-
मित्यत्र बुद्धिरनुधावति नो मदीया ।
एवं कदापि मनसा नहि शङ्कनीयं ,
भूयोऽपि मे शृणु वचोऽत्र सयुक्ति भद्र ! ॥ १७ ॥

दुःखं सुखं च यदिदं किल बोध्यतेऽत्र ,
भोज्यैस्तथा च दहनादिभिरग्निभूते ! ।
अस्मिन् स्फुटा भवति कर्मणि मूर्त्तताया ,
सा याति नो तनुतया खलु दृष्टिमार्गम् ॥ १८ ॥

यद् बाह्यवस्तुबलतो गुणधर्मभेदः ,
संदृश्यतेऽत्र सकलः स हि मूर्त्त आर्य ! ।
ज्ञानाय भो ! ननु निदर्शनमत्र विद्धि ,
कुम्भो दृढो भवति तैलघृताक्त एषः ॥ १९ ॥

यद् वस्तु विप्र ! गुणधर्मविभेदभावे ,
प्राप्नोति यां परिणतिं किल भिन्नभिन्नाम् ।
तद् विप्रराज ! परिभावय मूर्त्तमेव ,
क्षीरं यथा परिणतौ दधि जायतेऽत्र ॥ २० ॥

यद् योग्यता परिणतं तददृष्टमूर्त्तं ,
सिद्धान्ततस्त्वमवगच्छ मनो नियोज्य ।
दृष्टान्ततोऽत्र पवनद्व्यणुकादि वस्तु ,
ज्ञात्वार्य ! भावय निजान्तरि कर्मसिद्धिम् ॥२१॥

एवं वीरवचांसि कर्मविषये सद्युक्तिपूर्णान्यसौ ,
श्रुत्वा चेतसि बुद्धवान् प्रभुवरे सर्वज्ञतां प्रस्फुटाम् ।
नत्वा श्रीगुरुपादपद्मयुगलं जैने च धर्मे मतिं ,
धृत्वा स्वीयखखेषु छात्रसहितः आसिद् द्विजो दीक्षितः ।२२।

॥ इति श्रीगणधरवादकाव्ये द्वितीयश्रीअग्निभूति-
गणधरस्य वर्णनम् ॥

तृतीयश्रीवायुभूतिगणधरः

स्वचारुवक्त्रादथवायुभूतिः,
आकर्ण्य बन्धुद्वयमाप्तदीक्षम्।
विशेषचिन्ताकुलितेन्द्रियोऽयं,
शोशुच्यमानः कृतवान् विमर्शम् ॥ १ ॥

बन्धू मदीयौ ययुपेयिवान्सौ,
यदीय बोधेन च वीतशङ्कौ।
आस्तामतो वीरजिनो ममाऽपि,
करिष्यति श्रेय उपास्यमानः ॥ २ ॥

मदीयचित्ते किल संशयो यः,
गाढं तमो वास्ति विराजमानः।
तद् भानु वाग्दीधितिभिश्चिरं नो,
समूलमेव क्षयमेष्यतीति ॥ ३ ॥

विचारयन् चेतसि वायुभूतिः,
शिष्यैर्निजैः पञ्चशतैः समेतः।
समस्तभूतार्तिविनाशदक्षं,
जितारिषट्कं प्रभुमाससाद ॥ ४ ॥

दृष्टैव तं स प्रभुराह वाचं,
हे वायुभूते! नहि वेत्सि सम्यक्।
श्रुतेः पदार्थानत एव भद्र!,
त्वमूहसे जीवशरीरभेदे ॥ ५ ॥

यथा सुराद्रव्यसमन्वयेन,
उत्पद्यते मादकता तथैव।
भूवारिवैश्वानरवायुसंघात्,
स्याच्चेतनातस्तनुरेव जीवः ॥ ६ ॥

एवं त्वया नैव विशङ्कनीयं,
नोऽधीतवान् किं श्रुतिवाक्यमेतत्।
स्वर्गस्य कामी तु यजेत हीति,
वेदेऽपि सिद्धस्तनु जीवभेदः ॥ ७ ॥

जडानि भूतानि भवन्ति सौम्य,
तेषां हि संघो यदि चेतना स्यात्।
तदा मिलित्वा सिकतासमूहः,
कथं न तैलाभ हि कल्पतेऽसौ ॥ ८ ॥

मृतेऽस्ति देहेऽपि तु भूतसंघः,
सा चेतना तत्र कथं च भाति।
भूतातिरिक्तस्तत एष जीवः,
एवं कुतो वेत्सि न वायुभूते! ॥ ९ ॥

मृते तु देहे नहि वायु-वह्नि,
अतः कुतस्तत्र तु चेतनेति।
युक्तो न तर्कः नयतर्पूति,
तौ युक्तितश्चेतन सिद्धयतीष्टम् ॥ १० ॥

विशिष्ट-तेजोऽनलयोरभावात्,
मृते शरीरे नहि चेतना चेत्।
त्वं तद् विशिष्टं ननु जीवमेष,
कथं न वेत्सि द्विज! देहीमन्नम् ॥ ११ ॥

वातायनैः पञ्चभिरीक्षमाणः,
पुमान् यथा भद्र! गवाक्षभिन्नः।
तथेन्द्रियैः पञ्चभिरर्थबोद्धा,
आत्मापि भिन्नो भवताऽनुमेयः ॥ १२ ॥

आद्या शिशोर्या स्तनपान कांक्षा-
ऽभिलाषताया अपराभिलाषः।
पूर्वाऽस्ति तस्मादभिलाष एषः,
शरीरभिन्नो गुण आत्मनो वै ॥ १३ ॥

दुःखं सुखं चानुभवात्मकं भो,
अयं गुणश्चानुभवो द्विजेन्द्र!।
कमाश्रितः स्याद् गुणिनं विहाय,
गुणी स आत्मेति ततोऽवगच्छ ॥ १४ ॥

नो चेत् स्वभावं ह्यवलम्ब्य मुञ्चेः,
निजाग्रहं साक्षर ! तत् स्वभावः ।
चेच्चिन्मयोऽयं कथमेतु योगं,
जडेन भो ! भूतकदम्बकेन ॥ १५ ॥

स्वर्गाप्तये यज्ञविधिस्तथार्य !,
दानादिकर्माण्यपि भो ! वृथा स्युः ।
देहे चितायां तु फलानि तेषां,
जीवाहृते को हि लभेत नूनम् ॥ १६ ॥

एवं स आत्मा प्रकटश्च भिन्नः,
चित्तोपयोगी च विभावनीयः ।
तद् व्यावृतिं भद्र ! विहाय लोके,
ज्ञानं समस्तं विहतं बुध ! स्यात् ॥ १७ ॥

पवनभूतिरपि प्रभुबोधितः,
वपुषि चात्मनि भेद भवेत्य हि ।
निजखखेषु मितैर्बहुभिः समं,
शिवपदाप्ति - कृते पथिकोऽभवत् ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीगणधरवादकाव्ये तृतीय श्रीवायुभूति-
गणधरस्य वर्णनम् ॥

□

चतुर्थश्रीव्यक्तगणधरः

श्रुत्वा श्रीप्रभुणा जितान् भगवता त्रीनग्रजान् पण्डितान्,
व्यक्ताख्योऽपि तमीमिवान् द्विजवरः छात्रैः शतैः पञ्चभिः ।
सार्धं च प्रणनाम साञ्जलिममुं श्रीवर्द्धमानोऽवदत्,
व्यक्तं हि त्यज नास्तितां द्रुततरं भूतेषु या ते मता ।।१।।

वेदोदितं ब्रह्मविधौ महत्त्वं,
तथापलापं किल भूतसंघे ।
भूतानि देवा इति भाषितं च,
परस्परं भिन्नमवैषि विद्वन् ।। २ ।।

न वस्तुतो वेद पदार्थमार्य !
जानास्यतस्तेऽत्र महान् विमोह ।
न वस्तुनोऽस्ति स्वत एव सिद्धिः,
अतः प्रतीतिस्तव शून्यतायाः ।। ३ ।।

अर्थो हि कार्यं व्यवहारतश्च,
स एव भो ! कारणतामुपैति ।
परस्परापेक्षितया विवेकिन्,
स्वतो न सिद्धिः परतोऽपि नैव ।। ४ ।।

अव्यक्तमाद्यं किल वस्तुनोऽस्ति,
तथैव चान्तं परमाणुभावात् ।
मध्यं कथं तद् वशगं लभेत,
त्वं वेत्स्यतः शून्यमिदं समस्तम् ॥ ५ ॥

हे व्यक्त ! सम्प्रति शृणूत्तरमत्र पक्षं,
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं गदितं जगद्यत् ।
तत् कारणाद् विबुध ! विश्वविरागतायाः,
नाशाय मोहतमसस्तदनित्यताऽस्ति ॥ ६ ॥

दृष्टं श्रुतं च यदवेदि विचारितं यत्,
तत्स्वप्नगं भवति सर्वविदं सदैव ।
कामं तु जागृतनरस्य तदेव मिथ्या,
विद्वंस्तथापि परतोऽस्ति तदर्थं सत्ता ॥ ७ ॥

यद्यप्यसद् भवतु निश्चितमिन्द्रजालं,
मिथ्या तथापि न भवन्ति तदीयभावाः ।
एतद् विशालजगति द्विज ! सन्ति नूनं,
भूतानि कोऽत्र कुरुते हि वितर्कभावम् ॥ ८ ॥

भावं परं यत्वमपेक्ष्य सत्ता–
अर्थस्य वक्षीति न युक्तियुक्तम् ।
ह्रस्वादिकं यत् किल वस्तु जातं,
स्वतोऽपि सिद्ध्येदिह विप्रराज ! ॥ ९ ॥

तस्यैव संशय इहार्य ! यदस्ति सत्यं,
यच्चासदस्ति घटतेऽपि न तस्य शङ्का ।
अहोरगे भवति भो ! यदि सर्व रज्ज्वोः,
तर्ह्यं तयोर्विबुध ! सत्त्वमपीह दृश्यम् ।। १० ।।

यद्यप्यक्षयामिह धारयन्तः,
पदार्थधर्मा परिवर्तनार्हाः ।
तथापि वस्त्वेतदिति स्वकीया,
सत्ताऽपि सिद्धा खलु वस्तुनोऽत्र ।। ११ ।।

एवं हि भूतान्यपि सन्ति सौम्य !
स्वसत्तयाऽत्रेति विभावयत्वम् ।
भूतापलापो नहि युक्ततर्कः,
समृद्ध - मेतज्जगदस्ति तेन ।। १२ ।।

एवं श्रीजिनपस्य तर्कसहिता आकर्ण्य पूता गिरः,
व्यक्तोऽप्युज्झितवान् स्वसंशयमलं ज्ञात्वास्ति तां भौतिकीम् ।
नत्वा तच्चरणारविन्दयुगलं स्वीयोत्तमाङ्गेन च,
चारित्रं प्रविवेश निर्मलमतिः शिष्यैः समेतस्तदा ।।१३।।

।। इति श्रीगणधरवादकाव्ये चतुर्थश्रीव्यक्त-
गणधरस्य वर्णनम् ।।

□

पञ्चमः श्रीसुधर्मगणधरः

एवं हि सुज्ञाय चतुष्टयस्य,
वृत्तान्तमाकर्ण्य सुधर्मविप्रः ।
श्रीवर्द्धमानं प्रभुमत्र विश्वे,
धृतावतारं मनसा विबोध्य ॥ १ ॥

शिष्यान् समादाय शतानि पञ्चा–
गच्छद् द्विजोऽयं जिनपोपकण्ठम् ।
वीरस्तमूचे च नतं सुधर्मन् !
विमुञ्च सर्वस्य सहक्षतां त्वम् ॥ २ ॥

यादृग् भवेत् कारणमत्र लोके,
तादृग् हि कार्यं परिणामकाले ।
बीजं यथा तस्य फलं तथैव,
नोत्पद्यते निम्बत आम्रवृक्षः ॥ ३ ॥

एवं नरः प्रेत्य ध्रुवं नरः स्यात्,
नारी च नार्या अवतारमेति ।
किन्तु श्रुतौ तद् विपरीतमुक्तं,
जीवाः धरन्ते यदनेकदेहान् ॥ ४ ॥

एवं विरुद्धोक्तित एव शङ्का,
समुत्थिता ते हृदि तत् समाधिम् ।
वदामि भो ! त्वं शृणु सावधानः,
येन क्षयं यास्यति संशयोऽयम् ॥ ५ ॥

यन्मन्यसे कारणकार्यसाम्यं,
ऐकान्तिको निश्चय एष नैव ।
भवन्ति भूयांसि पृथक्त्वतोऽत्र,
कार्याणि विद्वन् ! किल कारणेभ्यः ॥ ६ ॥

केनापि योगेन हि लौहमेतत्,
स्वर्णत्वमायाति विलोकय त्वम् ।
गो लोभतो जायत एव दूर्वा,
जानीहि तद्धेतु विचित्रभावम् ॥ ७ ॥

विचित्ररूपात् किल कारणाद्धि,
विचित्र रूपाकृतिरत्र दृष्टा ।
तस्मादवेही हि शरीरिणां त्वं,
विचित्रयोनिभ्रमणं द्विजेन्द्र ! ॥ ८ ॥

पूर्वं मयोक्तैव हि कर्मसिद्धिः,
क्रिया भवेद् या फलनीति सा वै ।
तस्माद् विचित्रादिह कर्मणो वै,
विचित्रयोनिभ्रमणं सुसिद्धम् ॥ ९ ॥

नाट्ये नटो धारयते यथैकः,
वेषान् विचित्रान् मतिमांस्तथैव ।
विहाय मोहं निजमानसस्य,
सर्वस्य वैचित्र्यमवेहि सौम्य ! ॥ १० ॥

एवं निशम्य जिननाथ – सयुक्तिवाचः,
त्यक्त्वा स्वसंशयमसौ सकलस्य साम्ये ।
ज्ञात्वाऽचिरं तदनुकर्मविचित्रतां च,
दीक्षां दधौ स्वबटुभिः सहितः सुधर्मा ॥ ११ ॥

॥ इति श्रीगणधरवादकाव्ये पञ्चमश्रीसुधर्म-
गणधरस्य वर्णनम् ॥

षष्ठश्रीमण्डितगणधरः

ततस्तमाकर्ण्य गृहीतदीक्षं,
वीरं गतो मण्डितविप्रवर्यः ।
सम्बोध्य तं नाम च गोत्रमुक्त्वा,
अवोचदित्थं जगदेकनाथः ।। १ ।।

वेदे विभुत्वाद् गदितोऽयमात्मा,
व्योमेव नूनं गतबन्धमोक्षः ।
तत्रैव जीवस्य च बन्धमोक्ष,
चर्चा कृता कर्मवशी कृतस्य ।। २ ।।

एवं विरोधस्तव दृष्टिमार्गे,
यदापतत्यर्थमजानतस्तत् ।
करोषि शङ्कां ननु बन्धमोक्षौ,
जीवस्य किं वा भवतो नवास्य ।। ३ ।।

जीवस्य बन्धः सह कर्मणा चेत्,
यद्यादिमान् तत्खलु चेतनादेः ।
निर्हेतुकत्वान्नहि सम्भवोऽपि,
स्याद् वा जिनशृङ्गमिवात्र लोके ।। ४ ।।

अनादिमान् बन्ध इतीष्यते चेत्,
कदापि तत् स्यान्नहि जीवमुक्तिः ।
एवं घटेते नहि बन्धमोक्षौ,
हे मण्डितातस्तव संशयोऽस्ति ॥ ५ ॥

अत्रोत्तरं मे शृणु पक्षमार्य,
सद्युक्ति तेऽहं प्रतिपादयामि ।
आकर्ण्य यं स्यात् तव कः समाधिः,
त्वं चात्मनो ज्ञास्यसि बन्धमोक्षौ ॥ ६ ॥

परस्परं कारणकार्यभावाद्,
जीवस्य बीजाङ्कुरवद् द्विजेन्द्र ! ।
सम्बन्धमिष्टं सह कर्मणाऽत्र,
अनादिसन्तानमवेहि नूनम् ॥ ७ ॥

स्वस्मिन् यथा सम्मिलितं मृदंशं,
जहाति हेमानलयोगमेत्य ।
तथायमात्मा घनकर्मजालं,
ज्ञानक्रियाभ्यां दहतीति धार्यम् ॥ ८ ॥

मिथ्यात्वदोषादिकहेतुसंगाद्,
अज्ञानभावान्ननु या प्रवृत्तिः ।
क्रियासु जीवस्य विलोक्यतेऽत्र,
तां विद्धयनादिं विदुषां वरेण्यः ॥ ९ ॥

अरूपिजीवे ननु मूर्तकर्म-
बन्धः कथं स्यादिति नोहनीयम् ।
घटादिकानां नभसा निबन्धं,
अरूपिणा पश्यसि किं न विप्र ! ।। १० ।।

यावत् स्वरूपं नहि वेत्ति तावद्,
बद्धोऽयमात्मा सगुणत्वभावात् ।
ज्ञात्वा स्वरूपं त्वयमेव विप्र !
मुक्तो निगद्येत हि निर्गुणत्वात् ।। ११ ।।

इत्थं निशम्य जिननाथसुमिष्टवाणीं,
सम्यक्तया विदितवान् ननु बन्धमोक्षौ ।
नत्वा तदीयचरणौ द्विजमण्डितोऽयं,
छात्रैः समं जिनपदेन च दीक्षितोऽभूत् ।। १२ ।।

।। इति श्रीगणधरवादकाव्ये षष्ठश्रीमण्डित-
गणधरस्य वर्णनम् ।।

सप्तमश्रीमौर्यपुत्रगणधरः

सर्वज्ञतां जिनपतेरथ मौर्यपुत्रः,
आकर्ण्य दीक्षितममुं बुधमण्डितं च ।
मोक्षे शुभे दृढसमुत्सुकचित्तवृत्तिः,
छात्रैः सहागमदसावुपवीरमाशु ॥ १ ॥

तं वीर आह–बुध ! मौर्य ! श्रुतौ यदुक्तं,
यज्ञैः प्रयान्ति मनुजा अपि देवलोके ।
मायोपमानथसुरान्ननु कोहि पश्येत्,
तत्ते विरुद्धकथनात् किल देव शङ्का ॥ २ ॥

त्वं वस्तुतः श्रुतिपदार्थममुं न वेत्सि,
तच्छंकसे सुमनसां विषये मनीषिन् ।
त्वत् संशयस्य विदधामि निरासमार्य !
वाचं शृणुष्व मम सम्प्रति सावधानः ॥ ३ ॥

प्रत्यक्षतस्त्वमिह पश्यसि किं न देवान्,
यैः धारिताऽमलमनोहरवेषभूषा ।
मर्त्यानिमान् विबुध ! विद्धि न पश्य सम्यक्,
एतेऽनिमेषनयनाः न तथा मनुष्याः ॥ ४ ॥

एवं च खे भ्रमदिदं ननु तारकाणां ,
चक्रं न पश्यसि समुज्ज्वलदच्छकाक्षि ।
नैतत् प्रमेयमनलामृतयोर्विकारः ,
तत्त्वं जडं न गतिमत् प्रवदन्ति विज्ञाः ॥ ५ ॥

चेदालयान् मनुष एतदशेषचक्रं ,
ये त्वत्र भाव ! निवसन्त्यमराः ध्रुवं ते ।
एवं च लोकपतयः परितः सुराद्रिं ,
मौर्य ! भ्रमन्ति नियता स्थितिरत्र लोके ॥ ६ ॥

देवास्तथा च मनुजान् प्रतिदुःखसौख्ये ,
यल्लम्भयन्त इति सौख्य सुसिद्धमेव ।
यस्माच्च ते न नयनायनगोचराः स्युः ,
तत् कारणं भवति वैक्रियिकाययोगः ॥ ७ ॥

स्थूलं च सूक्ष्मलघुलम्बमिदं शरीरं ,
कर्त्तुं क्षमादि विपदो विविधक्रियातः ।
तद् वैक्रियं कथितमार्य ! बुधैस्तु शास्त्रे ,
एवं स्थितिं सुमनसां त्वमवेहि सौम्य ! ॥ ८ ॥

यन्नारकाः विविधपापफलोपभुक्त्यै ,
यद् भुञ्जते च शुभपुण्यफलानि देवाः ।
इत्थं हि शास्त्रभणितिं समधीत्य मे च ,
वाचो निशम्य बुधमानय देवसत्ताम् ॥ ९ ॥

मायोपमत्वमिति यद् गदितं सुराणां,
तत् साधकं ह्यमरसम्पदनित्यतायाः ।
नोचेदयं मखविधिः सकलो वृथा स्यात्,
उद्दिश्य किं फलमहो विदधीतकोऽपि ।। १० ।।

इत्थं वीरस्य वाचोऽमृतरसमधुराः कर्णयुग्मेन पीत्वा,
देवत्वे चास्तशङ्कः प्रणतिनतशिरा वीरपादौ ववन्दे
जैने धर्मे च निष्ठामचकरदचिरं शिष्ययूथेन सार्धं,
तत्कालं दीक्षितोऽभूज्जिनपति-वचसा मौर्यपुत्रो द्विजेन्द्रः ।। ११ ।।

।। इति श्रीगणधरवादकाव्ये सप्तमश्रीमौर्यपुत्र-
गणधरस्य वर्णनम् ।।

अष्टमश्रीअकम्पितगणधरः

अकम्पितो वीरजिनोक्तमार्गे,
गृहीतदीक्षं तु निशम्य मौर्यम्।
श्रीवर्द्धमानप्रभुवन्दनार्थं,
तदन्तिके शीघ्रमगात्स तन्त्रः ॥ १ ॥

दृष्ट्वा तमूचे जिननाथ एवं,
अकम्पित! स्वागतमस्तु भद्र!।
चित्ते त्वदीये किल संशयोऽयं,
यन्नारकाः सन्ति नवेति सौम्य! ॥ २ ॥

वीक्ष्यन्त एताः किल तारकास्तु,
तथा प्रतीतिः ननु देवतासु।
तिर्यंग् नरास्ते प्रगटाः जगत्यां,
परन्तु जानासि न नारकांस्त्वम् ॥ ३ ॥

गतिस्तुरीया निरयाभिधाना,
या प्राणिनामुच्यत आर्य! तत्र।
गता हि जीवास्त्वयका न दृष्टाः,
केनापि लिङ्गेन च नो गृहीता ॥ ४ ॥

अकम्पितातस्तव चित्तमध्ये ,
उदेति शङ्का खलु नारकेषु ।
दत्त्वावधानं शृणु मेऽत्र वाणीं ,
यया समाधानमवाप्स्यसि त्वम् ॥ ५ ॥

सिंहादयो यद्यपि चेन्न दृष्टाः ,
कैश्चिज्जनैः सन्ति तु ते तथापि ।
प्रत्यक्षमेवं तव नारकाः नो ,
परन्तु मे ते प्रकटाः विभान्ति ॥ ६ ॥

मदुक्तिमाधाय ननु प्रमाणं ,
सत्ता विबोध्या तव नारकाणाम् ।
यतः प्रमाणेषु यथार्थवस्तुः ,
वचः प्रमाणं कथितं तु तज्ज्ञैः ॥ ७ ॥

ज्ञानं यदत्रेन्द्रियसम्भवं तत् ,
प्रत्यक्षमित्येव न धारणीयम् ।
तदवस्तुतः सौम्य ! परोक्षमेव ,
यदात्मनस्तेन परोक्षताऽस्ति ॥ ८ ॥

उणादि सिद्धो ह्यशिधातुजो यः ,
अस्त्यक्ष शब्दो ननु तेन वाच्यः ।
आत्मा गतं तं प्रति यद् भवेत् तत् ,
प्रत्यक्षमुक्तं किल तत्त्वविद्भिः ॥ ९ ॥

त्वमिन्द्रियैः वेत्सि न नारकान्यान् ,
तानात्मनाहं किल वेद्मि भद्र ! ।
मनोगतं तेऽपि च भावमीक्षे ,
प्रत्यक्षमेवं ममकं प्रतीहि ॥ १० ॥

एतावताऽप्यार्य ! मनो न तुष्टं ,
अर्थापत्तिं ननु मानपे यद् ।
पीनो नरश्चैष दिवा न भुङ्क्ते ,
अर्था निशायामिति पीनभावात् ॥ ११ ॥

उत्कृष्टयोगाय सुरा यथोक्ताः ,
एकान्तदुःखाय तथैव सौम्य ।
मन्यामहे नैरयिकान् विना कान् ,
ब्रूहि त्वमेवोत्तरमत्र किञ्चित् ॥ १२ ॥

तिर्यङ्नरा आर्य ! न भुञ्जते तु ,
एकान्तदुःखानि यतो हि तेषाम् ।
दुःखाद् विरामोऽपि यदा कदाचित् ,
परन्तु तावत् नहि नारकाणाम् ॥ १३ ॥

तिर्यङ्नरा ये बहुदुःखभाजः ,
तेऽत्रोपमेयाः किल नारकैः स्युः ।
अकम्पितैवं ह्युपमाप्रमाणाद् ,
अवेहि सत्तां बुध ! नारकाणाम् ॥ १४ ॥

एवं वचो जिनपतेरमृतायमानं ,
श्रुत्वास्तितां विदितवान् ननु नारकाणाम् ।
विद्वानकम्पित इमं शिरसा च नत्वा ,
दीक्षां ललौ जिनपदेन सशिष्यवर्गः ।। १५ ।।

।। इति श्रीगणधरवादकाव्ये अष्टमश्रीअकम्पित-
गणधरस्य वर्णनम् ।।

नवमश्रीअचलभ्रातगणधरः

श्रीवर्द्धमानवचनामृतपानतृप्तान् ,

नैकान् मुनीनचलबन्धुरवेत्यमुक्तान् ।

मोक्षेच्छया स्वयमपि व्रजतिस्म शीघ्रं ,

शिष्यैः समं भगवतः जिनपस्य पार्श्वे ॥ १ ॥

यावत् कृताञ्जलिरसौ प्रणनाम वीरं ,

तावत्स आह भगवानचलैहि सौम्य ।

त्वं शङ्कसे श्रुतिपदानवबोधते वै ,

स्यातां सती किम ननु भुवि पुण्यपापे ॥ २ ॥

एके वदन्ति विबुधाः सुखदुःखहेतुं ,

उत्कर्षतो ह्युपचयेन च पुण्यमेव ।

हान्यास्तथोपचयतश्च हि केचिदत्र ,

सौख्यासुखप्रदमिदं ननु पापमेव ॥ ३ ॥

अन्ये पृथक्-पृथगिमे इति चापरे तु ,

आहुर्द्विवर्णमणिवद् ध्रुवमेकमेव ।

स्वाभाविके तनुभृतामिह दुःखसौख्ये ,

किं पुण्य-पापफलनादिति मन्वतेऽन्ये ॥ ४ ॥

एवंविधेऽवचल-सत्सु विकल्पकेषु ,
दोलायते तव मतिः किल संशयाप्ता ।
सम्प्रत्यहं तव समाधय एष वच्मि ,
त्वं मे निशामय वचो विहितावधानः ॥ ५ ॥

तुर्यो विकल्प इह पञ्चविकल्पकानां ,
मान्योऽस्ति नोऽपि मतिमन् ! शृणु कारणं यत् ।
वस्त्वत्र पुण्यमयपापमयस्वरूपाद् ,
वाच्यं यतो भवति पौद्गलिकं हि कर्म ॥ ६ ॥

आद्यानुपेक्ष्य कथितानिह भङ्गकांस्तु ,
चर्चाक्रियेत विबुधात्र हि पञ्चमस्य ।
योऽयं स्वभाव उदितः स च कीदृशोऽस्ति ,
मूर्त्तोऽथवा नय इवायममूर्त्तरूपः ॥ ७ ॥

चेन्मूर्त्त एष तत आर्य हि कर्मसिद्धिः ,
यानो मतास्त्यचलनो यदि मूर्तताऽस्य ।
कार्यं भवेदहहो नूनमकार्यमत्र ,
दुष्टं मतं च तवकं द्विजराज ! सिद्धचेत् ॥ ८ ॥

त्वं वस्तुधर्म इति चेन्मनुषे स्वभावं ,
प्राग्वद् विरोध इह सौम्य मते त्वदीये ।
चेद् वा स्वभावपदवाच्यमकारणत्वं ,
तर्ह्येकदेव पतिताः स्युरशेषभावाः ॥ ९ ॥

स्वभावसिद्धे यदि दुःखसौख्ये ,
तदातु भो ! स्रग्गरलादिकानाम् ।
अहेतुता स्यादनपेक्षिताया ,
तस्मात् स्वभावान् नहि ते भवेताम् ।। १० ।।

यदि स्वभावेऽनुपलब्ध आर्य ! ,
कर्तृत्वभावोऽचल मन्यते चेत् ।
तदा सुसिद्धे किल कर्मणीह ,
कुतो निषिध्येत हि कर्तृतेयम् ।। ११ ।।

यदोदयः स्याद् खलु सातकर्मणां ,
तदैव सौख्यं फलमाप्यते जनैः ।
असातकर्मप्रभवं फलं भवेत् ,
शरीरिणां केवलमार्त्तिदायकम् ।। १२ ।।

अथात्मनो वै परिणामभावात् ,
सुखं च दुःखं यदि रूपिणी नो ।
तदा किमर्थं ननु पुण्यपापे ,
ह्यरूपिणीति त्वयका न शङ्क्यम् ।। १३ ।।

यतो हि भावाः सकलाः द्विजेन्द्र ! ,
तुल्या अतुल्या इति नास्ति दोषः ।
तथा च विद्वन् ! सुखदुःखयोर्हि ,
स्रक्चन्दनाद्याश्च विषादिकानि ।। १४ ।।

सौम्येह मूर्त्ताः यदि हेतवः स्युः,
कुतस्तदैते नहि पुण्यपापे ।
मूर्त्तं विजानासि स्वयं विवेकात्,
कार्यस्य चेत् कारणता समाना ॥ १५ ॥
जीवस्थितं सत्क्रिययोत्थितं यत्,
सर्वं हि पुण्यं त्वमवेहि भात्र ।
तस्माद् विरुद्धं द्विज ! पापमस्ति,
युक्त्या नयैवाचल ! विद्धि सर्वम् ॥ १६ ॥
सौम्ये हि कार्यस्य च कारणस्य,
कार्यानुरूपं किल कारणं स्यात् ।
जीवस्य विद्वन् ! परिणाम उक्तः,
सुखस्य दुःखस्य च नामधेयात् ॥ १७ ॥
पूर्वोदिताभिः किल युक्तिभिः भो,
सिद्धे: भवेतां द्विज पुण्यपापे ।
स्कन्धस्तयोः पुद्गल एक एव,
एतद्वयं चित्रितपत्रवच्च ॥ १८ ॥
एवं विधैर्वीरजिनेन्द्रवाक्यैः,
सद्युक्तिपूर्णैरथ बोधमाप्तः ।
वीतस्वशङ्कोऽचलबन्धुरेषः,
गृहीतवान् जैनपदेन दीक्षान् ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीगणधरवादकाव्ये 'अचलभ्राता' नामक गणधरस्य वर्णनम् ॥

दशमश्रीमेतार्यगणधरः

अथेन्द्रभूत्यादिमहीद्विजानां ,
मुक्तात्मनां वीरवचः प्रभावात् ।
आकर्ण्य वृत्तं निजमुक्तिकामी ,
मेतार्यविप्रः प्रभुमाससाद ॥ १ ॥

कृतः प्रणामं तमुवाच वीरः ,
मेतार्य ! ते स्वागतमाचरामि ।
किमस्ति वा नो परलोकवस्तु ,
इति त्वदीयः किल संशयोऽस्ति ॥ २ ॥

शरीरधर्मः किल चेतनेयं ,
मृते शरीरे न भवान्तराप्तिः ।
मद्ये यथा मादकता तथेयं ,
चेद्देहजानामपि ततोऽन्यलोकः ॥ ३ ॥

यद्वैकसूर्यः प्रतिबिम्बतोऽप्सु ,
व्याप्तस्तथात्मा प्रतिदेहमेकः ।
चेद् व्यापकत्वान्नु देहनाशे ,
कुतोऽन्यलोके गतिमानयं स्यात् ॥ ४ ॥

शरीरिणां किन्तु भवान्तरार्ति,
शास्त्रोदितामार्य ! शृणोऽपि तस्मात् ।
आरेकसे त्वं परलोकसत्तां,
अत्रोत्तरं पण्डित ! दत्तपूर्वम् ॥ ५ ॥

भूतेन्द्रियेभ्यो ह्यतिरिक्त आत्मा,
त्वदीय धर्मः किल चेतनास्ति ।
नित्यश्च नैकः न च निष्क्रियोऽयं,
घटादिवद् लक्षणभेदभिन्नः ॥ ६ ॥

तथा सुराणामथ नारकाणां,
कृतेन्य लोकोऽपि हि सर्वमेतत् ।
प्रपञ्चितं गौतमवायुभूति-
मौर्यादिकेभ्यो बहुयुक्तिपूर्वम् ॥ ७ ॥

सुखं तु केचिन्ननु दुःखमन्ये,
लभन्त एवं च विलोकय भेदम् ।
तदात्मभेदाद्धि भवान्ताप्ति,
सम्भावनां कुरुषे कथन्न ॥ ८ ॥

तस्मादनन्तो निजकर्मभिश्च,
बहूनि जन्मानि लभेत जीवः ।
मेतार्य ! जातिस्मरणाच्च कश्चिद्,
भवान्तरज्ञानमुपैति नूनम् ॥ ९ ॥

इत्थं प्रभोर्जिनवरस्य निशम्य वाणीं ,
पीयूषतोऽपि मधुरो द्विजराज एषः ।
हित्वा स्वसंशयमलं परलोकबोधं ,
कृत्वा च मोक्षपदवीं पथिको बभूव ।। १० ।।

।। इति श्रीगणधरवादकाव्ये श्रीमेतार्य-
गणधरस्य वर्णनम् ।।

एकादशम श्रीप्रभासगणधरः

श्रीवर्द्धमानोदितमोक्षमार्गे ,
पान्थायमानानथ गौतमादीन् ।
श्रुत्वा प्रभासोऽपि जिनोपकण्ठं ,
स्वमुक्तिमिच्छन् द्रुतमाजगाम ॥ १ ॥

चक्रे प्रणामं प्रभवे ततस्तं ,
श्रीमान् महावीर उवाच वाक्यम् ।
प्रभास ! ते शं भवतात् सदैव ,
मोक्षोऽस्ति वा नेति तवास्ति शङ्का ॥ २ ॥

वेदे तु देवालयभाम हेतोः ,
यष्टव्यमाजीवनमेव- मुक्तम् ।
यज्ञस्य सावद्यविधिस्वरूपान्न-
मोक्षस्य सिद्धिर्घटते कदापि ॥ ३ ॥

तत्रैव चोक्तं यदि यं तु मुक्तिः ,
गुहास्य लोकस्य हि दुष्प्रवेश्या ।
एतेन वाक्येन च मोक्षसिद्धिः ,
एवं विरोधात् तव कात्र शङ्का ? ॥ ४ ॥

तैलक्षये दीपक एष भूमिं,
न चाऽन्तरिक्षं प्रति गच्छतीह ।
स केवलं शान्तिमुपैति यद्वत्,
आत्मापि दुःखक्षयतो हि तद्वत् ॥ ५ ॥

प्रवृत्तिमार्गाश्रयिणो हि लोकान्,
उद्दिश्य यागादिविधानमुक्तम् ।
निवृत्तिमार्गाश्रयिणां जनानां,
त्वियं निषिद्धा नहि वेदवाक्यैः ॥ ६ ॥

पर्यायनाशेऽपि विभूषणानां,
यथा नहि स्यात् तपनीयनाशः ।
तद्वन्मनुष्यादिशरीरनाशे,
न जीवनाशो घटते प्रभास ! ॥ ७ ॥

निर्वाणमासे किल दीपकेऽपि,
न सर्वथा तस्य विनाश आस्ते ।
दीपाह्वयं वस्तु विनष्टमेव,
परं तदीया अणवस्तु सन्तः ॥ ८ ॥

यथार्द्रकाष्ठैः सह योगमेत्य,
वह्निर्यथा धूमविकारमेति ।
तथैव सौम्यात्र समस्तभावाः,
स्वरूपमेवं परिवर्तयन्ति ॥ ९ ॥

अनादिबन्धः सह कर्मणा यः,
जीवस्य तस्य च्युतिरेव मुक्तिः।
द्रव्यत्वतो यत्र विभाति जीवः,
यथा सुवर्णं दृषदा वियुक्तम् ॥ १० ॥

अनादिसंयोगत एव युक्तौ,
पाषाण - धातूज्वलनेन भिन्नौ।
ज्ञानक्रियाभ्यां हि तथैव जीवः,
अनादिबन्धात् खलु मुक्तिमेति ॥ ११ ॥

मोक्षस्तु सत्यः कथितो मनीषिन्,
खपुष्पवन्नैव कदाप्यसत्यः।
मुक्तात्मनो नैव हि कर्मबन्धः,
तस्माच्च मुक्तिः किल साद्यनन्ता ॥ १२ ॥

प्रवाहरूपान्ननु काल एषः,
उत्पद्यमानोऽपि भवेदनादिः।
तथैव कर्मक्षयतो हि मुक्तिः,
भवेदनादिर्बुध ! मानयेत्थम् ॥ १३ ॥

न पुण्यपापक्षयतस्तु मुक्तिः,
अभावतो वा सुखदुःखयोर्हि।
तस्मान्न वाच्यः सुख-दुःख-हीनः,
व्योमेव मुक्तो भवता प्रभास ! ॥ १४ ॥

देहेन्द्रियोत्थं सुखमस्ति यद् यद् ,
तत् तद् हि दुःखप्रदमेव विद्धि ।
यदात्मसौख्यं हि तदेव नित्यं ,
मुक्तस्तदाप्नोति निरीहभावात् ॥ १५ ॥
यद्यस्य विश्वस्य समस्त सौख्यं ,
कथञ्चिदेकीक्रियते द्विजेन्द्र ! ।
तथापि नो लक्षतमेऽपि भागे ,
तन्मुक्त - सौख्यस्य समत्वमीयात् ॥ १६ ॥
इत्थं विश्वविभोः दयान्वितहृदो , वक्त्राम्बुजस्यन्दितं ,
श्रेयोदायि समस्तपापदलने , दक्षं मनस्तोषदम् ।
पीत्वाऽलं वचनामृतं विदितवान् , तत्त्वं तु मुक्ते रसौ ,
शीघ्रं शिष्यशतत्रयेण सहितः, दीक्षां प्रभासो ललौ ॥१७॥
इत्थं जिनेन्द्रस्य वचो जलेन ,
प्रक्षालितस्वान्तमला समस्ताः ।
एकादशैते हि गणाधिनाथाः ,
अस्यां पृथिव्यां प्रथिताः बभूवुः ॥ १८ ॥
श्रीमन्महावीरदिनेश्वरोऽयं ,
मोहान्धकारं दलयन् प्रकाशात् ।
त्रिशत्समाः भूमितलेऽत्र रेजे ,
स श्रेयसे स्याज्जगतां समेषाम् ॥ १९ ॥
॥ इति श्रीगणधरवादकाव्ये एकादशमश्रीप्रभास-
गणधरस्स वर्णनम् ॥ □

एवं सर्वज्ञविभोः श्री महावीरस्वामिभगवतः पार्श्वे संमिल्य सर्वेऽपि चतुश्चत्वारिंशच्छतानि [४४००] विप्राः प्रव्रजिताः । तत्रमुख्यानां एकादशानां मुनिवराणां उत्पाद्–व्यय–ध्रौव्यरूपत्रिपदीग्रहणपूर्वकं एकादशाङ्ग-चतुर्दशपूर्वरचना, गणधरपदप्रतिष्ठा च, तत्र आचाराङ्ग-सूत्रादिरूप द्वादशाङ्गीरचनाऽनन्तरं सर्वज्ञभगवांस्तेषां तदनुज्ञां करोति ।

शक्रेन्द्रश्च दिव्यं वज्रमयस्थालं दिव्यचूर्णानां भृत्वा त्रिलोकनाथः सन्निहितो भवति । ततः श्रीमहावीरस्वामीभगवान् रत्नमयसिंहासनाद् समुत्थाय सम्पूर्णां चूर्णमुष्टिं गृह्णाति । ततः श्रीइन्द्रभूतिप्रमुखा एकादशाऽपि गणधरा ईषदकेनता अनुक्रमेण तिष्ठन्ति एव । देवानां दिव्यवाजित्रध्वनिगीतादिनिषेधं विधाय तूष्णीकः शृणवन्ति ।

ततो भगवान् पूर्वं तावत् भणति-"गौतमस्य द्रव्यगुणपर्यायैस्तीर्थमनुजानामि" चूर्णाश्च तन्मस्तके क्षिपति । एतस्मिन् समये शक्रेन्द्रादिदेवा अपि दिव्य-चूर्णपुष्प गन्धवृष्टिं कुर्वन्ति । गणं च भगवान् श्रीसुधर्मस्वामिनं धुरि व्यवस्थाप्यानुजानाति ।

॥ इति श्रीगणधरवादकाव्यं समाप्तम् ॥ ☐

प्र...श...स्ति...

श्रीमद् वीरजिनेन्द्रस्य, शासनाधिपतेः प्रभोः ।
विश्वे विजयते नित्यं, पट्टं धर्मधुरन्धरम् ।। १ ।।

तत्र स्वामी सुधर्माख्यो, गणीन्द्रः श्रुतकेवली ।
निर्ग्रन्थ-नामकं गच्छ-मतनोद् भुवि निर्मलम् ।। २ ।।

कोटिशः सूरिमन्त्रस्य, जपात् सुस्थितसूरिभिः ।
कोटिगच्छमतिस्वच्छं, स्थापितं तन्महीतले ।। ३ ।।

चन्द्रं चन्द्रोज्ज्वलं भूयः, सद्यशो रश्मिशोभितः ।
अनुचकार गच्छश्री चन्द्रसूरीश्वरो महान् ।। ४ ।।

समन्ताद् वनवासीति, सामन्तभद्रसूरिपः ।
स्वच्छं गच्छं वितेने सः, तदनु भद्रकृद् भुवि ।। ५ ।।

सर्वदेवाख्यसूरीशः, सर्वश्रेयस्करं फलम् ।
वडगच्छं पवित्रं च, विशालं तदनु व्यधात् ।। ६ ।।

श्रीमेदपाट भूपाल - महातपापदैर्भुवि ।
श्रीजगच्चन्द्रसूरीशै - स्तपागच्छः प्रवर्त्तितः ।। ७ ।।

परम्परागते स्वच्छे, तपागच्छेऽत्र भूतले।
यवनाकबरे लेश - प्रतिबोधकराः चराः ॥ ८ ॥

धीर - वीरत्व - हीरत्व - गभीरत्वादि - भूषिताः।
जगद्गुरुवराः विज्ञाः, सञ्जाता हीरसूरयः ॥ ९ ॥

प्रतापि - सेनसूरीशै - र्दक्षैः श्रीदेवसूरिभिः।
वादीभैः सिंहकल्पैः श्रीसिंहसूरीश्वरैः क्रमात् ॥ १० ॥

तस्य पट्टे सुपन्न्यासः, सत्यनिष्ठो मुनीश्वरः।
श्री सत्यविजयोनामा - ऽभवत् शैथिल्यशोषणः ॥ ११ ॥

तत् पट्टे गणिवर्यः श्री कर्पूरविजयोऽभवत्।
तस्यपट्टेऽभवत् चैव, श्रीक्षमाविजयो गणी ॥ १२ ॥

जिनोत्तम-पद्म - रूप - कीर्त्ति - कस्तूरनामकाः।
गणीश्वराः क्रमाऽऽयाताः, कविवराश्च पण्डिताः ॥ १३ ॥

तस्य पट्टे तपस्वी वै, श्रीमणिविजयोगणी।
तत्पट्टे पुण्यवान् धीमान्, श्रीबुद्धिविजयोऽभवत् ॥ १४ ॥

तस्य पट्टे प्रशान्तो वै, श्रीवृद्धिविजयाभिधः।
वृद्धिचन्द्रस्यनाम्नोऽपि, जातः प्रसिद्धिरेव हि ॥ १५ ॥

तेषां पट्टधराः ख्याताः, विश्वे धर्मप्रभावकाः।
सत्तीर्थोद्धारकाः प्रौढ़ाः, सर्वतन्त्रस्वतन्त्रकाः ॥ १६ ॥

जैनशासनसम्राजो, विभ्राजो ज्ञानरश्मिभिः ।
सूरिमन्त्रैकप्रस्थान - पञ्चकाराधकाः किल ।। १७ ।।

सद्ब्रह्मचारिणः श्रीमन्नेमिसूरीश्वरा वराः ।
क्षमाधरार्चिता जाता-स्तत्पट्टाम्बर भास्कराः ।। १८ ।।

सप्तलक्षाधिकश्लोक - मितस्य संस्कृतस्य च ।
साहितस्य सुकर्त्तारः, कृतीशा ब्रह्मचारिणः ।। १९ ।।

शान्ताः साहित्यसम्राजो, विभ्राजो ज्ञानज्योतिषा ।
ख्याता व्याकरणे वाच-स्पतयः कविरत्नकाः ।। २० ।।

शास्त्रविशारदा जाता, लावण्यसूरिशेखराः ।
तेषां पट्टधरा मुख्याः, दक्षाः शास्त्रविशारदाः ।। २१ ।।

कविदिवाकरा ख्याताः, सद्व्याकरणरत्नकाः ।
दक्षसूरीश्वरा जाताः, सुशीलालङ्कृताः शुभाः ।। २२ ।।

पट्टधरेण तेषां वै, सहोदरेण साधुना ।
देव-गुरु प्रसादात् श्रीसुशीलसूरिणा मुदा ।। २३ ।।

जम्बूद्वीपे प्रसिद्धेऽस्मिन्, रम्ये भरतक्षेत्रके ।
भरते दक्षिणार्द्धे श्री मध्यखण्डे विराजिते ।। २४ ।।

राजस्थाने शुभे प्रान्ते, मरुधरे प्रदेशके ।
गोडवाडविभागे वै, श्रीबाली नगरे वरे ।। २५ ।।

मनमोहनपार्श्वादि - जिनचैत्यस्यपार्श्वके ।
लावण्यपौषधस्थाने, वर्षास्थितिं प्रकुर्वता ।। २६ ।।

नेत्रवेदनभोनेत्र - मिते वैक्रमवत्सरे ।
सुगणधरवादोऽयं, सम्यक् पद्यमयः कृतः ।। २७ ।।

यावन् मेरुरवीन्दु-सागरवराः नक्षत्र-तारा-ग्रहाः ,
षट्द्रव्याणि जीवादितत्त्वप्रमुखाः सर्वे हि विश्वे स्थिताः ।
तावद् वीरविभोर्महागणधरा-णां वादकाव्यं वरम् ,
चेदं नन्दतु पण्डित-गुणधिया यत् वाच्यमानं भवेत् ।।२८।।

卐 ॥ वन्दे वीरम् ॥ 卐

श्रीगणधर जीवन-तालिका

आज से श्रीवीर संवत् २५१३ तथा श्री विक्रम संवत् २०४३ वर्ष पूर्व इस भारत देश में वर्त्तमान जैनशासन के अधिपति चौबीसवें तीर्थंकर **श्रमण भगवान महावीर परमात्मा** की अस्तिता-विद्यमानता थी। उनके चौदह हजार (१४०००) मुनियों की संख्या में मुख्य रूप में श्रुतकेवली **श्रीगौतम स्वामी आदि ग्यारह गणधर भगवन्त** थे। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं–

१. **श्री इन्द्रभूति गणधर।**
२. **श्री अग्निभूति गणधर।**
३. **श्री वायुभूति गणधर।**
४. **श्री व्यक्तगणधर।**
५. **श्री सुधर्मा गणधर।**
६. **श्री मण्डित गणधर।**
७. **श्री मौर्यपुत्र गणधर।**

८. श्री अचलभ्राता गणधर ।

९. श्री अकम्पित गणधर ।

१०. श्री मेतार्य गणधर ।

११. श्री प्रभास गणधर ।

प्रत्येक गणधर भगवन्त की संक्षिप्त **'जीवन-तालिका'** अर्थात् **लघु परिचय** क्रमशः इस प्रकार है–

卐 पहले गणधर श्रीइन्द्रभूति 卐

१.	नाम	: श्रीइन्द्रभूति (प्रसिद्ध नाम श्रीगौतमस्वामीजी) ।
२.	पिताश्री	: श्रीवसुभूति ।
३.	मातुश्री	: पृथिवीदेवी ।
४.	भ्राता	: श्रीअग्निभूति तथा श्रीवायुभूति । (दोनों लघुबन्धु)
५.	जाति	: विप्र (ब्राह्मण) ।
६.	गोत्र	: गौतमगोत्र ।
७.	जन्मभूमि	: मगधदेश, कुण्डलपुर-गोबर गाँव
८.	जन्मराशि तथा जन्मनक्षत्र	: वृश्चिकराशि तथा ज्येष्ठा नक्षत्र ।

९. देह का वर्ण और रूप	:	स्वर्ण (सोना) के समान वर्ण और रूप आहारक देह रूप से भी अधिक।
१०. आकृति	:	महान् तेजस्वी, महाप्रभावशाली।
११. ऊँचाई	:	सात हाथ।
१२. संघयण	:	वज्रऋषभनाराच संघयण।
१३. संस्थान	:	समचतुरस्र संस्थान।
१४. व्यवसाय	:	अध्यापन कार्य एवं अनुष्ठान क्रिया।
१५. ज्ञान	:	गृहस्थावस्था में चौदह विद्या के पारगामी, दीक्षावस्था में सम्यग् मतिज्ञानादि चार ज्ञान के बाद पंचम केवलज्ञान।
१६. ज्ञान का अभिमान	:	गृहस्थावस्था में 'सर्वज्ञोऽहम्' अर्थात् 'मैं सर्वज्ञ हूँ' ऐसा अभिमान।
१७. संशय	:	'जीव-आत्मा है कि नहीं' यह संशय था।
१८. शिष्यगण	:	५००।
१९. गृहस्थावस्था	:	५० वर्ष तक संसार में अर्थात् गृहस्थावास में रहे।
२०. दीक्षा	:	५१ वें वर्ष में जैनधर्म की भागवती

		दीक्षा अपने ५०० शिष्यों के साथ अपापापुरी के महसेन वन में श्रमण भगवान महावीर परमात्मा से ग्रहण की।
२१.	दीक्षा तिथि :	वैशाख सुदी (११) ग्यारस। (उसी दिन श्रमण भगवान महावीर परमात्मा के प्रथम मुख्य शिष्य बने और प्रभु के पास 'उवन्नेई वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा' रूप त्रिपदी सुन कर पहले गणधर हुए।)
२२.	दीक्षा गुरु :	सर्वज्ञ विभु श्रमण भगवान महावीर परमात्मा।
२३.	दीक्षा के दिन गुरुबन्धु :	श्रीअग्निभूति तथा श्रीवायुभूति आदि १० हुए।
२४.	दीक्षा के दिन शिष्य-परिवार :	सह दीक्षित ५०० शिष्य।
२५.	दीक्षा पर्याय (काल) :	४२ वर्ष।
२६.	छद्मस्थ पर्याय :	३० वर्ष।

२७. शास्त्र-रचना : सर्वज्ञविभु श्रीमहावीर परमात्मा से त्रिपदी सुन कर जिन्होंने अन्त-मुहूर्त में द्वादशांगी (आचारांग आदि बारह आगम सूत्रों) की सम्पूर्ण रचना बीजबुद्धि द्वारा की।

२८. गुण-सम्पदा : सुसंयम, ज्ञान, ध्यान, तप, विनय, विवेक, क्रिया तथा सेवा - भक्ति इत्यादि अनेक सद्गुणों के भण्डार थे।

२९. लब्धियाँ : केवलज्ञानादि सफल लब्धियों के निधान थे।

३०. केवलज्ञान : आसो [कार्त्तिक] वद अमावस की मध्य रात्रि में भगवान श्री महावीर निर्वाण के बाद, पिछली रात्रि में अपने ८१ वें वर्ष के प्रारम्भ में केवल-ज्ञान प्राप्त किया।
(उनका महोत्सव कार्त्तिक सुद एकम के दिन प्रभातकाल में उजवाया।)

३१. केवली पर्याय : १२ वर्ष तक।

३२. अनशन : अन्तिम अवस्था में अनशन पादोपगमन का किया।

३३. संलेखना : छठ के पारणे छठ करने वाले श्री गौतम स्वामी जी ने अन्तिम अवस्था में संलेखना एक मास के उपवास की की।

३४. कर्मक्षय : चार घाती और चार अघाती सभी कर्मों का सर्वथा क्षय किया।

३५. आयुष्य : सम्पूर्ण आयुष्य ९२ वर्ष।

३६. निर्वाण : सम्पूर्ण ९२ वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके श्री महावीर परमात्मा के निर्वाण के बारह वर्ष बाद मगधदेश की राजगृही नगरी के वैभारगिरि पर सकल कर्म का क्षय करके निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया।
मोक्ष में उनकी आज भी सादि अनंत स्थिति प्रवर्त रही है और भविष्य में भी सर्वदा ऐसी रहेगी।

□

卐 दूसरे गणधर श्रीअग्निभूति 卐

१.	नाम	: श्रीअग्निभूति ।
२.	पिताश्री	: श्रीवसुभूति ।
३.	मातुश्री	: पृथिवीदेवी ।
४.	भ्राता	: श्रीइन्द्रभूति अग्रज तथा श्रीवायु-भूति अनुज ।
५.	जाति	: विप्र (ब्राह्मण) ।
६.	गोत्र	: गौतमगोत्र ।
७.	जन्मभूमि	: मगधदेश, कुण्डलपुर-गोबर गाँव ।
८.	जन्मराशि तथा जन्मनक्षत्र	: वृषभराशि तथा कृत्तिका नक्षत्र ।
९.	देह का वर्ण और रूप	: स्वर्ण (सोना) के समान वर्ण और रूप आहारक देहरूप से भी अधिक ।
१०.	आकृति	: महान् तेजस्वी, महान् प्रभावशाली ।
११.	ऊँचाई	: सात हाथ ।
१२.	संघयण	: वज्रऋषभ नाराच संघयण ।
१३.	संस्थान	: समचतुरस्र संस्थान ।
१४.	व्यवसाय	: अध्यापन कार्य एवं अनुष्ठान क्रिया ।
१५.	ज्ञान	: गृहस्थावस्था में चौदह विद्या के

पारगामी, दीक्षावस्था में सम्यग् मतिज्ञानादि चार ज्ञान के बाद पंचम केवलज्ञान ।

१६. ज्ञान का अभिमान : गृहस्थावस्था में 'सर्वज्ञोऽहम्' अर्थात् 'मैं सर्वज्ञ हूँ' ऐसा अभिमान था ।

१७. संशय : 'कर्म है कि नहीं' यह संशय था ।

१८. शिष्यगण : ५०० ।

१९. गृहस्थावस्था : ४६ वर्ष तक संसार में अर्थात् गृहस्थावास में रहे ।

२०. दीक्षा : ४७ वें वर्ष में जैनधर्म की पारमेश्वरी प्रव्रज्या (दीक्षा) अपने ५०० शिष्यों सहित अपापापुरी के महसेन वन में श्रमण भगवान महावीर परमात्मा से ग्रहण की ।

२१. दीक्षातिथि : वैशाख सुदी (११) ग्यारस (उसी दिन श्रमण भगवान महावीर परमात्मा के द्वितीय-दूसरे शिष्य बने और प्रभु के पास 'उवन्नेइ वा-विगमेइ वा-धुवेइ वा रूप त्रिपदी' सुन कर दूसरे गणधर हुए ।)

२२. दीक्षा गुरु : सर्वज्ञ विभु श्रमण भगवान महावीर परमात्मा ।

२३. दीक्षा के दिन गुरुबन्धु : श्रीइन्द्रभूति तथा श्रीवायुभूति आदि १० हुए ।

२४. दीक्षा के दिन शिष्य-परिवार : सह दीक्षित ५०० शिष्य ।

२५. दीक्षा पर्याय (काल) : २८ वर्ष ।

२६. छद्मस्थ पर्याय : १२ वर्ष ।

२७. शास्त्र-रचना : सर्वज्ञ विभु श्री महावीर परमात्मा से त्रिपदी सुन कर जिन्होंने अन्तर्मुहूर्त्त में द्वादशांगी (आचारांग आदि बारह आगम सूत्रों) की सम्पूर्ण रचना बीजबुद्धि द्वारा की ।

२८. गुणसम्पदा : सुसंयम, ज्ञान, ध्यान, तप, विनय, विवेक, क्रिया तथा सेवा-भक्ति इत्यादि अनेक सद्गुणों के भण्डार थे ।

२९. लब्धियाँ : केवलज्ञानादि सकल लब्धियों के निधान थे ।

३०.	केवलज्ञान	: आयु के ५६ वें वर्ष के प्रारम्भ में केवलज्ञान प्राप्त किया।
३१.	केवलीपर्याय	: १६ वर्ष तक।
३२.	अनशन	: अन्तिम अवस्था में अनशन पादोप-गमन का किया।
३३.	संलेखना	: अन्तिम अवस्था में संलेखना एक मास के उपवास की की।
३४.	कर्मक्षय	: चार घाती और चार अघाती सभी कर्मों का सर्वथा क्षय किया।
३५.	आयुष्य	: सम्पूर्ण आयुष्य ७४ वर्ष।
३६.	निर्वाण	: सम्पूर्ण आयुष्य ७४ वर्ष का पूर्ण करके विभु श्री महावीर परमात्मा की विद्यमानता में ही, मगधदेश की राजगृही नगरी के वैभारगिरि पर सकल कर्म का क्षय करके निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया। मोक्ष में उनकी आज भी सादि अनंत स्थिति प्रवर्त रही है और भविष्य में भी सर्वदा ऐसी रहेगी।

卐 तीसरे गणधर श्री वायुभूति 卐

१.	नाम	: श्री वायुभूति ।
२.	पिताश्री	: श्री वसुभूति ।
३.	मातृश्री	: पृथिवीदेवी ।
४.	भ्राता	: अग्रज श्री इन्द्रभूति तथा श्री अग्निभूति ।
५.	जाति	: विप्र (ब्राह्मण) ।
६.	गोत्र	: गौतमगोत्र ।
७.	जन्मभूमि	: मगधदेश, कुण्डलपुर गोबर गाँव ।
८.	जन्मराशि तथा जन्मनक्षत्र	: तुला राशि तथा स्वाति नक्षत्र ।
९.	देह का वर्ण और रूप	: स्वर्ण (सोना) के समान वर्ण और रूप आहारक देह रूप से भी अधिक ।
१०.	आकृति	: महान् तेजस्वी, महान् प्रभावशाली ।
११.	ऊँचाई	: सात हाथ ।
१२.	संघयण	: वज्रऋषभ नाराच संघयण ।

१३.	संस्थान	: समचतुरस्र संस्थान ।
१४.	व्यवसाय	: अध्यापन कार्य एवं अनुष्ठान क्रिया ।
१५.	ज्ञान	: गृहस्थावस्था में चौदह विद्या के पारगामी तथा दीक्षावस्था में सम्यग्ज्ञानादि चार ज्ञान के बाद पंचम केवलज्ञान ।
१६.	ज्ञान का अभिमान	: गृहस्थावस्था में 'सर्वज्ञोऽहम्' अर्थात् 'मैं सर्वज्ञ हूँ' ऐसा अभिमान था ।
१७.	संशय	: 'यह शरीर ही आत्मा है कि इससे भिन्न आत्मा है ?' यह संशय था ।
१८.	शिष्यगण	: ५०० ।
१९.	गृहस्थावस्था	: ४२ वर्ष तक संसार में अर्थात् गृहस्थावस्था में रहे ।
२०.	दीक्षा	: ४३ वें वर्ष में जैनधर्म की पारमेश्वरी प्रव्रज्या (दीक्षा) अपने ५०० शिष्यों के साथ अपापापुरी के महसेन वन में श्रमण भगवान महावीर परमात्मा से ग्रहण की ।
२१.	दीक्षा तिथि	: वैशाख सुदी (११) ग्यारस (उसी

दिन श्रमण भगवान महावीर परमात्मा के तृतीय-तीसरे शिष्य बने और प्रभु के पास 'उवन्नेइ वा–विगमेइ वा–धुवेइ वा रूप त्रिपदी' सुन कर तीसरे गणधर हुए ।)

२२. दीक्षा गुरु : सर्वज्ञ विभु श्रमण भगवान महावीर परमात्मा ।

२३. दीक्षा के दिन गुरुबन्धु : श्री इन्द्रभूति तथा श्री अग्निभूति आदि १० हुए ।

२४. दीक्षा के दिन शिष्य-परिवार : सहदीक्षित ५०० शिष्य ।

२५. दीक्षा पर्याय (काल) : २८ वर्ष तक ।

२६. छद्मस्थ पर्याय : १० वर्ष तक ।

२७. शास्त्र-रचना : सर्वज्ञ विभु श्री महावीर परमात्मा के पास से त्रिपदी सुन कर जिन्होंने अन्तर्मुहूर्त्त में द्वादशाङ्गी (आचारांग आदि बारह आगम सूत्रों) की सम्पूर्ण रचना बीजबुद्धि द्वारा की ।

२८. गुण-सम्पदा : सुसंयम, ज्ञान, ध्यान, तप, विनय,

विवेक, क्रिया तथा सेवा-भक्ति इत्यादि अनेक सद्गुणों के भण्डार थे।

२६. लब्धियाँ : केवलज्ञानादि सकल लब्धियों के निधान थे।

३०. केवलज्ञान : अपनी आयु के ५३ वें वर्ष के प्रारम्भ में केवलज्ञान प्राप्त किया।

३१. केवली पर्याय : १८ वर्ष तक।

३२. अनशन : अन्तिम अवस्था में अनशन पादोपगमन का किया।

३३. संलेखना : अन्तिम अवस्था में संलेखना एक मास के उपवास की की।

३४. कर्मक्षय : चार घाती और चार अघाती सभी कर्मों का सर्वथा क्षय किया।

३५. आयुष्य : सम्पूर्ण आयुष्य ७० वर्ष का था।

३६. निर्वाण : सम्पूर्ण ७० वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके विभु श्री महावीर परमात्मा की विद्यमानता में ही, मगधदेश की राजगृही नगरी के वैभारगिरि पर,

सकल कर्मों का क्षय करके निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया। मोक्ष में उनकी ग्राज भी सादि ग्रनंत स्थिति प्रवर्त्त रही है और भविष्य में भी सर्वदा ऐसी रहेगी।

❀ संसार में श्री इन्द्रभूति, श्री ग्रग्निभूति तथा श्री वायुभूति इन तीनों बन्धुओं के पिता एवं माता एक होने से ये सगे सहोदर होते हैं तथा दीक्षा में सर्वज्ञ विभु श्री महावीर परमात्मा के शिष्य होने से ये तीनों गुरुबन्धु (गुरुभाई) होते हैं।

□

卐 चौथे गणधर श्री व्यक्त 卐

१. नाम : श्री व्यक्त।

२. पिताश्री : श्री धनमित्र।

३. मातुश्री : वारुणी देवी।

४. जाति : विप्र (ब्राह्मण)।

५. गोत्र : भारद्वाज गोत्र।

६. जन्म-भूमि : कोल्लाक सन्निवेश गाँव।

७. जन्म-राशि : मकर राशि।

८.	जन्म-नक्षत्र	: श्रवण नक्षत्र ।
९.	देह का वर्ण और रूप	: स्वर्ण (सोना) के समान वर्ण और रूप आहारक देह रूप से भी अधिक ।
१०.	आकृति	: महान् तेजस्वी, महान् प्रभावशाली ।
११.	ऊँचाई	: सात हाथ ।
१२.	संघयरण	: वज्रऋषभ नाराच संघयण ।
१३.	संस्थान	: समचतुरस्र संस्थान ।
१४.	व्यवसाय	: अध्यापन कार्य एवं अनुष्ठान क्रिया ।
१५.	ज्ञान	: गृहस्थावस्था में चौदह विद्या के पारगामी तथा दीक्षावस्था में सम्यग् मतिज्ञानादि चार ज्ञान के बाद पंचम केवलज्ञान ।
१६.	ज्ञान का अभिमान	: गृहस्थावस्था में 'सर्वज्ञोऽहम्' अर्थात् 'मैं सर्वज्ञ हूँ' ऐसा अभिमान था ।
१७.	संशय	: 'पंच भूत (पृथ्वी आदि) हैं कि नहीं ?' यह संशय रहा ।
१८.	शिष्यगरण	: ५०० ।

१६. गृहस्थावस्था : ५० वर्ष तक संसार में अर्थात् गृहस्थावस्था में रहे।

२०. दीक्षा : ५१ वें वर्ष के प्रारम्भ में जैनधर्म की पारमेश्वरी प्रव्रज्या (दीक्षा) अपने ५०० शिष्यों सहित अपापापुरी के महसेन वन में श्रमण भगवान महावीर परमात्मा से ग्रहण की।

२१. दीक्षा तिथि : वैशाख सुदी (११) ग्यारस (उसी दिन श्रमण भगवान महावीर परमात्मा के चतुर्थ-चौथे शिष्य बने और प्रभु के पास 'उवन्नेइ वा-विगमेइ वा-धुवेइ वा' रूप त्रिपदी सुन कर चौथे गणधर हुए।

२२. दीक्षा गुरु : सर्वज्ञ विभु श्रमण भगवान महावीर परमात्मा।

२३. दीक्षा के दिन गुरुबन्धु : श्री इन्द्रभूति तथा श्री अग्निभूति आदि १० हुए।

२४. दीक्षा के दिन शिष्य-परिवार : सहदीक्षित ५०० शिष्य।

२५. दीक्षा पर्याय (काल) : ३० वर्ष तक ।

२६. छद्मस्थ पर्याय : १२ वर्ष तक ।

२७. शास्त्ररचना : सर्वज्ञ विभु श्री महावीर परमात्मा से त्रिपदी सुन कर के जिन्होंने अन्तर्मुहूर्त्त में द्वादशाङ्गी (आचारांग आदि बारह आगम सूत्रों) की सम्पूर्ण रचना बीजबुद्धि द्वारा की।

२८. गुण-सम्पदा : सुसंयम, ज्ञान, ध्यान, तप, विनय, विवेक, क्रिया तथा सेवा-भक्ति इत्यादि अनेक सद्गुणों के भण्डार थे।

२९. लब्धियाँ : केवलज्ञानादि सकल लब्धियों के निधान थे।

३०. केवलज्ञान : आयु के ६३ वें वर्ष के प्रारम्भ में केवलज्ञान प्राप्त किया।

३१. केवली पर्याय : १८ वर्ष तक।

३२. अनशन : अन्तिम अवस्था में अनशन पादोपगमन का किया।

३३. संलेखना : अन्तिम अवस्था में संलेखना एक मास के उपवास की की ।

३४. कर्मक्षय : चार घाती और चार अघाती सभी कर्मों का सर्वथा क्षय किया ।

३५. आयुष्य : सम्पूर्ण आयुष्य ८० वर्ष का था ।

३६. निर्वाण : सम्पूर्ण ८० वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके विभु श्री महावीर परमात्मा की विद्यमानता में ही, मगधदेश की राजगृही नगरी के वैभारगिरि पर, सकलकर्म का क्षय करके निर्वाण प्राप्त किया ।

मोक्ष में उनकी आज भी सादि अनंत स्थिति प्रवर्त्त रही है और भविष्य में भी सर्वदा ऐसी रहेगी ।

□

卐 पाँचवें गणधर श्री सुधर्मा 卐

१.	नाम	: श्री सुधर्मा।
२.	पिताश्री	: श्री धनमित्र (श्री धम्मिल)।
३.	मातुश्री	: भद्दिलादेवी।
४.	जाति	: विप्र (ब्राह्मण)।
५.	गोत्र	: अग्निवेश्यायन गोत्र।
६.	जन्मभूमि	: कोल्लाक गाँव।
७.	जन्मराशि	: कन्या राशि।
८.	जन्मनक्षत्र	: उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र।
९.	देह का वर्ण और रूप	: स्वर्ण (सोना) के समान वर्ण और रूप आहारक देहरूप से भी अधिक।
१०.	आकृति	: महान् तेजस्वी, महान् प्रभावशाली।
११.	ऊँचाई	: सात हाथ।
१२.	संघयण	: वज्रऋषभ नाराच संघयण।
१३.	संस्थान	: समचतुरस्र संस्थान।
१४.	व्यवसाय	: अध्यापन कार्य एवं अनुष्ठान क्रिया।
१५.	ज्ञान	: गृहस्थावस्था में चौदह विद्या के पारगामी तथा दीक्षावस्था में सम्यग्-

मतिज्ञानादि चार ज्ञान के बाद पंचम केवलज्ञान ।

१६. ज्ञान का अभिमान : गृहस्थावस्था में 'सर्वज्ञोऽहम्' अर्थात् 'मैं सर्वज्ञ हूँ' ऐसा अभिमान था ।

१७. संशय : "जैसा यहाँ वैसा ही जन्म परभव में ?' अर्थात् 'जो प्राणी जैसा इस भव में है, वैसा ही वह (प्राणी) परभव में होता है कि अन्य स्वरूप में ?" यह संशय था ।

१८. शिष्यगण : ५०० ।

१९. गृहस्थावस्था : ५० वर्ष तक संसार में अर्थात् गृहस्थावास में रहे ।

२०. दीक्षा : ५१ वें वर्ष में जैनधर्म की पारमेश्वरी प्रव्रज्या (दीक्षा) अपने ५०० शिष्यों के साथ, अपापापुरी के महसेन वन में श्रमण भगवान महावीर परमात्मा से ग्रहण की ।

२१. दीक्षातिथि : वैशाख सुदी (११) ग्यारस । (उसी दिन श्रमण भगवान महावीर परमात्मा के पंचम-पाँचवें शिष्य बने

और प्रभु से 'उवन्नेइ वा- विगमेइ वा- धुवेइ वा' रूप त्रिपदी सुन कर पाँचवें गणधर हुए)।

२२.	दीक्षा-गुरु	: सर्वज्ञ विभु श्रमण भगवान महावीर परमात्मा।
२३.	दीक्षा के दिन गुरुबन्धु	: श्री इन्द्रभूति तथा श्री अग्निभूति आदि १० हुए।
२४.	दीक्षा के दिन शिष्य-परिवार	: सहदीक्षित ५०० शिष्य।
२५.	दीक्षा पर्याय (काल)	: ५० वर्ष तक रहा।
२६.	छद्मस्थ पर्याय	: ४२ वर्ष तक रहा।
२७.	शास्त्ररचना	: सर्वज्ञ विभु श्री महावीर परमात्मा से त्रिपदी सुन कर अन्तर्मुहूर्त्त में द्वादशाङ्गी (आचारांग आदि बारह आगमसूत्रों) की सम्पूर्ण रचना बीज-बुद्धि द्वारा की।
२८.	गुणसम्पदा	: सुसंयम, ज्ञान, ध्यान, तप, विनय, विवेक, क्रिया तथा सेवा-भक्ति

इत्यादि अनेक सद्गुणों के भण्डार थे।

२९. लब्धियाँ : केवलज्ञानादि सकल लब्धियों के निधान थे।

३०. केवलज्ञान : आयु के ९३ वें वर्ष में केवलज्ञान प्राप्त किया।

३१. केवली पर्याय : ८ वर्ष तक रहा।

३२. अनशन : अन्तिम अवस्था में अनशन पादोपगमन का किया।

३३. संलेखना : अन्तिम अवस्था में संलेखना एक मास के उपवास की की।

३४. कर्मक्षय : चार घाती और चार अघाती सभी कर्मों का सर्वथा क्षय किया।

३५. आयुष्य : सम्पूर्ण आयुष्य १०० वर्ष का था।

३६. निर्वाण : सम्पूर्ण १०० वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके विभु श्री महावीर परमात्मा के निर्वाण के २० वर्ष बाद मगधदेश की राजगृही नगरी के वैभारगिरि पर, सकल कर्मों का क्षय करके निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया।

मोक्ष में आज भी उनकी सादि अनंत
स्थिति प्रवर्त रही है और भविष्य
में भी सर्वदा ऐसी रहेगी ।

* [विशेष–(१) यही श्री सुधर्मास्वामीजी गणधर पहले उदय के बीस आचार्यों में मुख्य युगप्रधान हुए । ये ४२ वर्ष (अन्य श्री इन्द्रभूत्यादि दस गणधरों से अधिक समय) पर्यन्त छद्मस्थ काल में ३० वर्ष तक प्रभु श्री महावीर स्वामी की सेवा में रहे और १२ वर्ष तक श्रीगौतम-स्वामी महाराज की सेवा में रहे ।

(२) श्री महावीर परमात्मा ने अपनी विद्यमानता में ही जब ग्यारह गणधरों को द्रव्य-गुण-पर्याय का प्रतिपादन करने वाले तीर्थ को योग्य जीवों को पमाडने की अनुज्ञा करते हुए सभी के मस्तक पर दिव्य चूर्ण डाला, उसी समय दीर्घ आयुष्यवन्त श्री सुधर्मास्वामीजी की समस्त मुनिगण की अनुज्ञा की ।

(३) श्रमण भगवान श्री महावीरस्वामीजी की पट्टपरम्परा में सबसे पहला नाम आज भी श्री सुधर्मास्वामी गणधर का कहलाता है ।]

□

卐 छठे गणधर श्रीमण्डित 卐

१.	नाम	: श्रीमण्डित ।
२.	पिताश्री	: श्रीधनदेव ।
३.	मातुश्री	: विजयदेवी ।
४.	जाति	: विप्र (ब्राह्मण) ।
५.	गोत्र	: वासिष्ठ गोत्र ।
६.	जन्मभूमि	: मौर्य सन्निवेश गाँव ।
७.	जन्मराशि	: सिंह राशि ।
८.	जन्मनक्षत्र	: मघा नक्षत्र ।
९.	देह का वर्ण और रूप	: स्वर्ण (सोना) के समान वर्ण और रूप आहारक देहरूप से भी अधिक।
१०.	आकृति	: महान् तेजस्वी, महान् प्रभावशाली।
११.	ऊँचाई	: सात हाथ ।
१२.	संघयण	: वज्रऋषभ नाराच संघयण ।
१३.	संस्थान	: समचतुरस्र संस्थान ।
१४.	व्यवसाय	: अध्यापन कार्य एवं अनुष्ठान क्रिया।
१५.	ज्ञान	: गृहस्थावस्था में चौदह विद्या के पारगामी तथा दीक्षावस्था में सम्यग्-

मतिज्ञानादि चार ज्ञान के बाद पंचम केवलज्ञान।

१६. ज्ञान का अभिमान	:	गृहस्थावस्था में 'सर्वज्ञोऽहम्' अर्थात् 'मैं सर्वज्ञ हूँ' ऐसा अभिमान था।
१७. संशय	:	'बन्ध-मोक्ष हैं ? अर्थात् बन्ध और मोक्ष हैं कि नहीं ?' यह संशय था।
१८. शिष्यगरण	:	३५०।
१९. गृहस्थावस्था	:	५३ वर्ष तक संसार में अर्थात् गृहस्थावास में रहे।
२०. दीक्षा	:	५४ वें वर्ष में जैनधर्म की पारमेश्वरी प्रव्रज्या (दीक्षा) अपने ३५० शिष्यों सहित अपापापुरी के महसेन वन में श्रमरण भगवान महावीर परमात्मा से ग्रहरण की।
२१. दीक्षा तिथि	:	वैशाख सुदी (११) ग्यारस। (उसी दिन श्रमरण भगवान महावीर परमात्मा के छठे शिष्य बने और प्रभु से 'उवन्नेइ वा- विगमेइ वा- धुवेइ वा' रूप त्रिपदी सुन कर छठे गरणधर हुए।

२२.	दीक्षा गुरु	: सर्वज्ञ विभु श्रमण भगवान महावीर परमात्मा।
२३.	दीक्षा के दिन गुरुबन्धु	: श्री इन्द्रभूति तथा श्री अग्निभूति आदि १० हुए।
२४.	दीक्षा के दिन शिष्य परिवार	: सहदीक्षित ३५० शिष्य।
२५.	दीक्षापर्याय (काल)	: ३० वर्ष तक।
२६.	छद्मस्थपर्याय	: १४ वर्ष तक।
२७.	शास्त्ररचना	: सर्वज्ञ विभु श्री महावीर परमात्मा से त्रिपदी सुन कर अन्तर्मुहूर्त्त में द्वादशाङ्गी (आचाराङ्ग आदि बारह आगमसूत्रों) की सम्पूर्ण रचना बीजबुद्धि द्वारा की।
२८.	गुणसम्पदा	: सुसंयम, ज्ञान, ध्यान, तप, विनय, विवेक, क्रिया तथा सेवा-भक्ति इत्यादि अनेक सद्गुणों के भण्डार थे।
२९.	लब्धियाँ	: केवलज्ञानादि सकल लब्धियों के निधान थे।

३०. केवलज्ञान	:	६८ वें वर्ष के प्रारम्भ में केवलज्ञान प्राप्त किया।
३१. केवलीपर्याय	:	१६ वर्ष तक।
३२. अनशन	:	अन्तिम अवस्था में अनशन पादोपगमन का किया।
३३. संलेखना	:	अन्तिम अवस्था में संलेखना एक मास के उपवास की की।
३४. कर्मक्षय	:	चार घाती और चार अघाती सभी कर्मों का सर्वथा क्षय किया।
३५. आयुष्य	:	सम्पूर्ण आयुष्य ८३ वर्ष।
३६. निर्वाण	:	सम्पूर्ण ८३ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर प्रभु श्री महावीर परमात्मा के जीवन काल में ही मगधदेश की राजगृही नगरी के वैभारगिरि पर, सकल कर्मों का क्षय करके निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया। मोक्ष में आज भी उनकी सादि अनंत स्थिति प्रवर्त्त रही है और भविष्य में भी सर्वदा ऐसी रहेगी।

□

卐 सातवें गणधर श्रीमौर्यपुत्र 卐

१.	नाम	: श्रीमौर्यपुत्र ।
२.	पिताश्री	: श्रीमौर्य ।
३.	मातुश्री	: विजयदेवी ।
४.	जाति	: विप्र (ब्राह्मण) ।
५.	गोत्र	: काश्यप गोत्र ।
६.	जन्मभूमि	: मौर्य गाँव ।
७.	जन्मराशि	: वृषभ राशि ।
८.	जन्मनक्षत्र	: मृगशिरा नक्षत्र ।
९.	देह का वर्ण और रूप	: स्वर्ण (सोना) के समान वर्ण और रूप आहारक देहरूप से भी अधिक ।
१०.	आकृति	: महान् तेजस्वी, महान् प्रभावशाली ।
११.	ऊँचाई	: सात हाथ ।
१२.	संघयण	: वज्रऋषभ नाराच संघयण ।
१३.	संस्थान	: समचतुरस्र संस्थान ।
१४.	व्यवसाय	: अध्यापन कार्य एवं अनुष्ठान क्रिया आदि ।

१५. ज्ञान : गृहस्थावस्था में चौदह विद्या के पारगामी तथा दीक्षावस्था में सम्यग्मतिज्ञानादि चार ज्ञान के बाद पंचम केवलज्ञान ।

१६. ज्ञान का अभिमान : गृहस्थावस्था में 'सर्वज्ञोऽहम्' अर्थात् 'मैं सर्वज्ञ हूँ' ऐसा अभिमान था ।

१७. संशय : अपने अन्तःकरण में 'क्या देवता है ?' अर्थात् 'देव है कि नहीं ?' यह संशय था ।

१८. शिष्यगण : ३५० ।

१९. गृहस्थावस्था : ६४ वर्ष उपरान्त संसार में अर्थात् गृहस्थावस्था में रहे ।

२०. दीक्षा : ६५ वें वर्ष में जैनधर्म की पारमेश्वरी प्रव्रज्या (दीक्षा) अपने ३५० शिष्यों के साथ अपापापुरी के महसेन वन में श्रमण भगवान महावीर परमात्मा से ग्रहण की ।

२१. दीक्षा तिथि : वैशाख सुदी (११) ग्यारस । (उसी दिन श्रमण भगवान महावीर परमात्मा के सातवें शिष्य बने और

प्रभु से 'उवन्नेइ वा- विगमेइ वा- धुवेइ वा' रूप त्रिपदी सुन कर सातवें गणधर हुए।)

२२. दीक्षा गुरु : सर्वज्ञ विभु श्रमण भगवान महावीर परमात्मा।

२३. दीक्षा के दिन गुरुबन्धु : श्रीइन्द्रभूति तथा श्रीअग्निभूति आदि १० हुए।

२४. दीक्षा के दिन शिष्य-परिवार : सहदीक्षित ३५० शिष्य।

२५. दीक्षा पर्याय (काल) : ३० वर्ष तक।

२६. छद्मस्थ पर्याय : १४ वर्ष तक।

२७. शास्त्र-रचना : सर्वज्ञ विभु श्री महावीर परमात्मा से त्रिपदी सुन कर अन्तर्मुहूर्त्त में द्वादशाङ्गी (आचारांग आदि बारह आगमसूत्रों) की सम्पूर्ण रचना बीजबुद्धि द्वारा की।

२८. गुण-सम्पदा : सुसंयम, ज्ञान, ध्यान, तप, विनय, विवेक, क्रिया तथा सेवा-भक्ति

इत्यादि अनेक सद्गुणों के भण्डार थे।

२९. लब्धियाँ : केवलज्ञानादि सकल लब्धियों के निधान थे।

३०. केवलज्ञान : अपने ८० वें वर्ष के प्रारम्भ में केवलज्ञान प्राप्त किया।

३१. केवली पर्याय : १६ वर्ष तक।

३२. अनशन : अन्तिम अवस्था में अनशन पादोपगमन का किया।

३३. संलेखना : अन्तिम अवस्था में संलेखना एक मास के उपवास की की।

३४. कर्मक्षय : चार घाती और चार अघाती सभी कर्मों का सर्वथा क्षय किया।

३५. आयुष्य : सर्वायुष्य (६५+१४+१६=)९५ वर्ष।

३६. निर्वाण : सम्पूर्ण ९५ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर विभु श्री महावीर परमात्मा के जीवनकाल में ही मगधदेश की राजगृही नगरी के वैभारगिरि पर, सकल

कर्मों का क्षय कर निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया ।

मोक्ष में आज भी उनकी सादि अनंत स्थिति प्रवर्त्त रही है और भविष्य में भी सर्वदा ऐसी ही रहेगी ।

□

卐 आठवें गणधर श्रीअकम्पित 卐

१.	नाम	: श्रीअकम्पित ।
२.	पिताश्री	: श्रीदेव ।
३.	मातुश्री	: जयन्तीदेवी ।
४.	जाति	: विप्र (ब्राह्मण) ।
५.	गोत्र	: गौतम गोत्र ।
६.	जन्मभूमि	: मिथिला नगरी ।
७.	जन्मराशि	: मकर राशि ।
८.	जन्मनक्षत्र	: उत्तराषाढ़ा नक्षत्र ।
९.	देह का वर्ण और रूप	: स्वर्ण (सोना) के समान वर्ण और रूप आहारक देहरूप से भी अधिक ।

१०.	आकृति	: महान् तेजस्वी, महान् प्रभावशाली।
११.	ऊँचाई	: सात हाथ।
१२.	संघयरण	: वज्रऋषभ नाराच संघयण।
१३.	संस्थान	: समचतुरस्र संस्थान।
१४.	व्यवसाय	: अध्यापन कार्य एवं अनुष्ठान क्रिया आदि।
१५.	ज्ञान	: गृहस्थावस्था में चौदह विद्या के पारगामी तथा दीक्षावस्था में सम्यग्-मतिज्ञानादि चार ज्ञान के बाद पंचम केवलज्ञान।
१६.	ज्ञान का अभिमान	: गृहस्थावस्था में 'सर्वज्ञोऽहम्' अर्थात् 'मैं सर्वज्ञ हूँ' ऐसा अभिमान था।
१७.	संशय	: अपने अन्तःकरण में 'नारक है क्या ?' अर्थात् 'नारक है कि नहीं ?' यह संशय था।
१८.	शिष्यगरण	: ३००।
१९.	गृहस्थावस्था	: ४८ वर्ष तक संसार में अर्थात् गृहस्थावस्था में रहे।

२०.	दीक्षा	: ४६ वें वर्ष के प्रारम्भ में अपने ३०० शिष्यों के साथ अपापापुरी के महसेन वन में श्रमण भगवान महावीर परमात्मा से ग्रहण की।
२१.	दीक्षातिथि	: वैशाख सुदी (११) ग्यारस। (उसी दिन श्रमण भगवान महावीर परमात्मा के आठवें शिष्य बने और प्रभु से 'उवन्नेइ वा- विगमेइ वा-धुवेइ वा' रूप त्रिपदी सुन कर आठवें गणधर हुए।)
२२	दीक्षा गुरु	: सर्वज्ञ विभु श्रमण भगवान महावीर परमात्मा।
२३.	दीक्षा के दिन गुरुबन्धु	: श्रीइन्द्रभूति तथा श्रीअग्निभूति आदि १० हुए।
२४.	दीक्षा के दिन शिष्य-परिवार	: सहदीक्षित ३०० शिष्य।
२५.	दीक्षा पर्याय (काल)	: ३० वर्ष।
२६.	छद्मस्थ पर्याय	: ६ वर्ष।

२७. शास्त्र-रचना : सर्वज्ञ विभु श्री महावीर परमात्मा से त्रिपदी सुन कर अन्तर्मुहूर्त्त में द्वादशाङ्गी (आचारांग आदि बारह आगमसूत्रों) को सम्पूर्ण रचना बीजबुद्धि द्वारा की।

२८. गुणसम्पदा : सुसंयम, ज्ञान, ध्यान, तप, विनय, विवेक, क्रिया, तथा सेवा-भक्ति इत्यादि अनेक सद्गुणों के भण्डार थे।

२९. लब्धियाँ : केवलज्ञानादि सकल लब्धियों के निधान थे।

३०. केवलज्ञान : ५८ वें वर्ष के प्रारम्भ में केवलज्ञान प्राप्त किया।

३१. केवली पर्याय : २१ वर्ष तक।

३२. अनशन : अन्तिम अवस्था में अनशन पादोपगमन का किया।

३३. संलेखना : अन्तिम अवस्था में संलेखना एक मास के उपवास की की।

३४. कर्मक्षय : चार घाती और चार अघाती सभी कर्मों का सर्वथा क्षय किया।

३५. आयुष्य : सर्वायुष्य (४८+९+२१=) ७८ वर्ष ।

३६. निर्वाण : सम्पूर्ण ७८ वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके प्रभु श्री महावीर परमात्मा के जीवन-काल में ही मगधदेश की राजगृही नगरी के वैभारगिरि पर, सकल कर्मों का क्षय करके निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया ।

मोक्ष में आज भी उनकी सादि अनंत स्थिति प्रवर्त्त रही है और भविष्य में भी सर्वदा ऐसी रहेगी ।

□

卐 नौवें गणधर श्रीअचलभ्राता 卐

१. नाम : श्री अचलभ्राता ।

२. पिताश्री : श्रीवसु ।

३. मातुश्री : नन्दादेवी ।

४. जाति : विप्र (ब्राह्मण) ।

५. गोत्र : हारित गोत्र ।

६. जन्म-भूमि : कोशला (अयोध्या) नगरी ।

७. जन्म-राशि	:	मिथुन राशि ।
८. जन्म-नक्षत्र	:	मृगशिरा नक्षत्र ।
९. देह का वर्ण और रूप	:	स्वर्ण (सोना) के समान वर्ण और रूप आहारक देहरूप से भी अधिक ।
१०. आकृति	:	महान् तेजस्वी, महान् प्रभावशाली ।
११. ऊँचाई	:	सात हाथ ।
१२. संघयण	:	वज्रऋषभ नाराच संघयण ।
१३. संस्थान	:	समचतुरस्र संस्थान ।
१४. व्यवसाय	:	अध्यापन कार्य एवं अनुष्ठान क्रिया आदि ।
१५. ज्ञान	:	गृहस्थावस्था में चौदह विद्या के पारगामी तथा दीक्षावस्था में सम्यग्-मतिज्ञानादि चार ज्ञान के बाद पंचम केवलज्ञान ।
१६. ज्ञान का अभिमान	:	गृहस्थावस्था में 'सर्वज्ञोऽहम्' अर्थात् 'मैं सर्वज्ञ हूँ' ऐसा अभिमान था ।
१७. संशय	:	'क्या पुण्य-पाप हैं ?' अर्थात् 'पुण्य-पाप हैं कि नहीं ?' यह संशय था ।
१८. शिष्यगण	:	३०० ।

१६. गृहस्थावस्था : ४६ वर्ष तक संसार में अर्थात् गृहस्थावस्था में रहे।

२०. दीक्षा : ४७ वें वर्ष में जैनधर्म की पारमेश्वरी प्रव्रज्या (दीक्षा) अपने ३०० शिष्यों सहित अपापापुरी के महसेन वन में श्रमण भगवान महावीर परमात्मा से ग्रहण की।

२१. दीक्षा तिथि : वैशाख सुदी (११) ग्यारस। (उसी दिन श्रमण भगवान महावीर परमात्मा के नौवें शिष्य बने और प्रभु से 'उवन्नेइ वा- विगमेइ वा- धुवेइ वा' रूप त्रिपदी सुन कर नौवें गणधर हुए।

२२. दीक्षा गुरु : सर्वज्ञ विभु श्रमण भगवान महावीर परमात्मा।

२३. दीक्षा के दिन गुरुबन्धु : श्री इन्द्रभूति तथा श्री अग्निभूति आदि १० हुए।

२४. दीक्षा के दिन शिष्य-परिवार : सहदीक्षित ३०० शिष्य।

२५. दीक्षा पर्याय (काल) : २६ वर्ष ।

२६. छद्मस्थ पर्याय : १२ वर्ष ।

२७. शास्त्ररचना : सर्वज्ञ विभु श्री महावीर परमात्मा से त्रिपदी सुन कर अन्तर्मुहूर्त्त में द्वादशाङ्गी (आचारांग आदि बारह आगमसूत्रों) की सम्पूर्ण रचना बीजबुद्धि द्वारा की ।

२८. गुण-सम्पदा : सुसंयम, ज्ञान, ध्यान, तप, विनय, विवेक, क्रिया तथा सेवा-भक्ति इत्यादि अनेक सद्गुणों के भण्डार थे ।

२९. लब्धियाँ : केवलज्ञानादि सकल लब्धियों के निधान थे ।

३०. केवलज्ञान : ५९ वें वर्ष में केवलज्ञान ।

३१. केवली पर्याय : १४ वर्ष ।

३२. अनशन : अन्तिम अवस्था में अनशन पादोपगमन का किया ।

३३. संलेखना : अन्तिम अवस्था में संलेखना एक मास के उपवास की की ।

३४. कर्मक्षय : चार घाती और चार अघाती सभी कर्मों का सर्वथा क्षय किया ।

३५. आयुष्य : सर्वायुष्य (४६+१२+१४=) ७२ वर्ष का था ।

३६. निर्वाण : सम्पूर्ण ७२ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर प्रभु श्री महावीर परमात्मा के जीवन-काल में ही मगधदेश की राजगृही नगरी के वैभारगिरि पर, सकल कर्मों का क्षय करके निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया ।

मोक्ष में आज भी उनकी सादि अनंत स्थिति प्रवर्त्त रही है और भविष्य में भी सर्वदा ऐसी रहेगी ।

□

卐 दसवें गणधर श्रीमेतार्य 卐

१. नाम : श्रीमेतार्य ।

२. पिताश्री : श्रीदत्त ।

३. मातुश्री : वरुणदेवी ।

४. जाति : विप्र (ब्राह्मण) ।

५.	गोत्र	: कौडिन्य गोत्र ।
६.	जन्मभूमि	: वच्छदेशान्तर्गत तुंगिक गाँव ।
७.	जन्मराशि	: मेष राशि ।
८.	जन्मनक्षत्र	: अश्विनी नक्षत्र ।
९.	देह का वर्ण और रूप	: स्वर्ण (सोना) के समान वर्ण और रूप आहारक देहरूप से भी अधिक ।
१०.	आकृति	: महान् तेजस्वी, महान् प्रभावशाली ।
११.	ऊँचाई	: सात हाथ ।
१२.	संघयण	: वज्रऋषभ नाराच संघयण ।
१३.	संस्थान	: समचतुरस्र संस्थान ।
१४.	व्यवसाय	: अध्यापन कार्य एवं अनुष्ठान क्रिया ।
१५.	ज्ञान	: गृहस्थावस्था में चौदह विद्या के पारगामी तथा दीक्षावस्था में सम्यग्-मतिज्ञानादि चार ज्ञान के बाद पंचम केवलज्ञान ।
१६.	ज्ञान का अभिमान	: गृहस्थावस्था में 'सर्वज्ञोऽहम्' अर्थात् 'मैं सर्वज्ञ हूँ' ऐसा अभिमान था ।
१७.	संशय	: 'क्या परलोक है ?' अर्थात् 'परलोक है कि नहीं ?' यह संशय था ।

१८. शिष्यगण : ३०० ।

१९. गृहस्थावस्था : ३६ वर्ष तक संसार में अर्थात् गृहस्थावास में रहे ।

२०. दीक्षा : ३७ वें वर्ष में जैनधर्म की पारमेश्वरी प्रव्रज्या (दीक्षा) अपने ३०० शिष्यों सहित अपापापुरी के महसेन वन में श्रमण भगवान महावीर परमात्मा से ग्रहण की ।

२१. दीक्षा तिथि : वैशाख सुदी (११) ग्यारस । (उसी दिन श्रमण भगवान महावीर परमात्मा के दसवें शिष्य बने और प्रभु से 'उवन्नेइ वा- विगमेइ वा- धुवेइ वा' रूप त्रिपदी सुन कर दसवें गणधर हुए ।)

२२. दीक्षा गुरु : सर्वज्ञ विभु श्रमण भगवान महावीर परमात्मा ।

२३. दीक्षा के दिन गुरुबन्धु : श्री इन्द्रभूति तथा श्री अग्निभूति आदि १० हुए ।

२४. दीक्षा के दिन शिष्य-परिवार : सहदीक्षित ३०० शिष्य ।

२५. दीक्षा पर्याय (काल) : २६ वर्ष ।

२६. छद्मस्थ पर्याय : १० वर्ष ।

२७. शास्त्ररचना : सर्वज्ञ विभु श्री महावीर परमात्मा से त्रिपदी सुन कर अन्तर्मुहूर्त्त में द्वादशाङ्गी (आचारांग आदि बारह आगमसूत्रों) की सम्पूर्ण रचना बीजबुद्धि द्वारा की ।

२८. गुणसम्पदा : सुसंयम, ज्ञान, ध्यान, तप, विनय, विवेक, क्रिया तथा सेवा-भक्ति इत्यादि अनेक सद्गुणों के भण्डार थे ।

२९. लब्धियाँ : केवलज्ञानादि सकल लब्धियों के निधान थे ।

३०. केवलज्ञान : ४७ वें वर्ष के प्रारम्भ में केवलज्ञान प्राप्त किया ।

३१. केवली पर्याय : १६ वर्ष ।

३२. अनशन : अन्तिम अवस्था में अनशन पादोपगमन का किया ।

३३. संलेखना : अन्तिम अवस्था में संलेखना एक मास के उपवास की की।

३४. कर्मक्षय : चार घाती और चार अघाती सभी कर्मों का सर्वथा क्षय किया।

३५. आयुष्य : सर्वायुष्य (३६+१०+१६=) ६२ वर्ष का था।

३६. निर्वाण : सम्पूर्ण ६२ वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके प्रभु श्री महावीर परमात्मा के जीवन-काल में ही मगधदेश की राजगृही नगरी के वैभारगिरि पर, सकल कर्मों का क्षय करके निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया।

मोक्ष में आज भी उनकी सादि अनंत स्थिति प्रवर्त्त रही है और भविष्य में भी सर्वदा ऐसी रहेगी।

□

卐 ग्यारहवें गणधर श्रीप्रभास 卐

१.	नाम	: श्रीप्रभास ।
२.	पिताश्री	: श्रीबल (श्रीबलभद्र) ।
३.	मातुश्री	: अतिबला (अतिभद्रा) ।
४.	जाति	: विप्र (ब्राह्मण) ।
५.	गोत्र	: कौडिन्य गोत्र ।
६.	जन्मभूमि	: राजगृही नगरी ।
७.	जन्मराशि	: कर्क राशि ।
८.	जन्मनक्षत्र	: पुष्य नक्षत्र ।
९.	देह का वर्ण और रूप	: स्वर्ण (सोना) के समान वर्ण और रूप आहारक देहरूप से भी अधिक ।
१०.	आकृति	: महान् तेजस्वी, महान् प्रभावशाली ।
११.	ऊँचाई	: सात हाथ ।
१२.	संघयण	: वज्रऋषभ नाराच संघयण ।
१३.	संस्थान	: समचतुरस्र संस्थान ।
१४.	व्यवसाय	: अध्यापन कार्य एवं अनुष्ठान क्रिया ।
१५.	ज्ञान	: गृहस्थावस्था में चौदह विद्या के पारगामी तथा दीक्षावस्था में सम्यग्-

मतिज्ञानादि चार ज्ञान के बाद पंचम केवलज्ञान ।

१६. ज्ञान का अभिमान	: गृहस्थावस्था में 'सर्वज्ञोऽहम्' अर्थात् 'मैं सर्वज्ञ हूँ' ऐसा अभिमान था ।
१७. संशय	: 'क्या मोक्ष है ?' अर्थात् 'मोक्ष है कि नहीं ?' यह संशय था ।
१८. शिष्यगण	: ३०० ।
१९. गृहस्थावस्था	: १५ वर्ष तक संसार में अर्थात् गृहस्थावास में रहे ।
२०. दीक्षा	: १६ वर्ष की (अन्य १० गणधरों से छोटी) वय (उम्र) में जैनधर्म की पारमेश्वरी प्रव्रज्या (दीक्षा) अपने ३०० शिष्यों के साथ, अपापापुरी के महसेन वन में श्रमण भगवान महावीर परमात्मा से ग्रहण की । बालसंयमी हुए ।
२१. दीक्षातिथि	: वैशाख सुदी (११) ग्यारस । (उसी दिन श्रमण भगवान महावीर परमात्मा के ग्यारहवें शिष्य बने, प्रभु से 'उवन्नेइ वा- विगमेइ वा-

ध्रुवेइ वा' रूप त्रिपदी सुन कर ग्यारहवें गणधर हुए)।

२२. दीक्षा-गुरु : सर्वज्ञ विभु श्रमण भगवान महावीर परमात्मा।

२३. दीक्षा के दिन गुरुबन्धु : श्री इन्द्रभूति तथा श्री अग्निभूति आदि १० हुए।

२४. दीक्षा के दिन शिष्य-परिवार : सहदीक्षित ३०० शिष्य।

२५. दीक्षा पर्याय (काल) : २४ वर्ष।

२६. छद्मस्थ पर्याय : ८ वर्ष।

२७. शास्त्ररचना : द्वादशाङ्गी (आचारांग आदि बारह आगमसूत्रों) आदि की सम्पूर्ण रचना बीजबुद्धि द्वारा की।

२८. गुणसम्पदा : सुसंयम, ज्ञान, ध्यान, तप, विनय, विवेक, क्रिया तथा सेवा-भक्ति इत्यादि अनेक सद्गुणों के भण्डार थे।

२९. लब्धियाँ : केवलज्ञानादि सकल लब्धियों के निधान थे।

३०. केवलज्ञान	:	आयु के २५ वें वर्ष के प्रारम्भ में केवलज्ञान प्राप्त किया।
३१. केवली पर्याय	:	१६ वर्ष।
३२. अनशन	:	अन्तिम अवस्था में अनशन पादोपगमन का किया।
३३. संलेखना	:	अन्तिम अवस्था में संलेखनापूर्वक शैलेशी अवस्था का अनुभव किया।
३४. कर्मक्षय	:	चार घाती और चार अघाती सभी कर्मों का सर्वथा क्षय किया।
३५. आयुष्य	:	सर्वायुष्य (१६+८+२४=) ४८ वर्ष का था।
३६. निर्वाण	:	सम्पूर्ण ४८ वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके प्रभु श्री महावीर परमात्मा के जीवन-काल में ही मगधदेश की राजगृही नगरी के वैभारगिरि पर, सकल कर्मों का क्षय कर निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया। मोक्ष में आज भी उनकी सादि अनंत स्थिति प्रवर्त्त रही है और भविष्य में भी सर्वदा ऐसी रहेगी। □

उपसंहार

इस अवसर्पिणी काल के चौबीसवें तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर परमात्मा के श्रुतकेवली श्री इन्द्रभूति (श्री गौतम स्वामीजी) आदि ग्यारह गणधर भगवन्तों की अति संक्षिप्त आलेखन की हुई यह **'श्री गणधर जीवन-तालिका'** लक्ष्य में लेकर तथा रहस्य को विचार कर ऐसे महान् तेजस्वी और महान् प्रभावशाली महापुरुषों द्वारा आचरित परमपवित्र पन्थ में चलकर, अहिंसा-संयम-तपमय सर्वोत्कृष्ट आदर्श जीवन बना कर, सकल कर्मों का सर्वथा क्षय-विनाश कर भव्यात्मा भव्यजीव अव्याबाध अविचल ऐसे मोक्ष के शाश्वत सुखों को शीघ्र प्राप्त करें; यही हार्दिक शुभ भावना।

卐 लेखक 卐

शासनसम्राट् - सूरिचक्रचक्रवर्त्ति-तपोगच्छाधिपति-श्रीकदम्बगिरि आदि अनेक तीर्थोद्धारक-परमपूज्याचार्य-महाराजाधिराज **श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरजी म. सा.** के पट्टालंकार - साहित्यसम्राट् - व्याकरणवाचस्पति - शास्त्र-विशारद-कविरत्न-परमपूज्याचार्यप्रवर **श्रीमद्विजयलावण्य-सूरीश्वरजी म. सा.** के पट्टधर-धर्मप्रभावक-शास्त्रविशारद-कविदिवाकर - व्याकरणरत्न - परमपूज्याचार्यवर्य **श्रीमद् विजयदक्षसूरीश्वरजी म. सा.** के पट्टधर-जैनधर्मदिवाकर-राजस्थानदीपक - मरुधरदेशोद्धारक - शास्त्रविशारद-आचार्य **श्रीमद् विजयसुशीलसूरि ।**

श्रीवीर संवत् २५१३	卐	
विक्रम संवत् २०४३	卐	
नेमि संवत् ३८	卐	**स्थल–**
पौष सुद १५		
गुरुवार,	卐	**श्री शान्तिनाथ**
दिनांक १५-१-८७	卐	**जैन देवस्थान**
(मुण्डारा गाँव में श्रीउपधान-	卐	**पेढ़ी ।**
तप आराधना के माला-	卐	**(जैन उपाश्रय)**
महोत्सव का अन्तिम दिन)		**मुण्डारा,** राजस्थान

॥ शुभं भवतु श्रीसंघस्य ॥

卐 ११ गणधरों के देववन्दन 卐

कर्त्ता–पूज्याचार्य श्रीज्ञानविमलसूरि म.

(१)

卐 प्रथम गणधर श्री इन्द्रभूति गौतम-स्वामीजी का चैत्यवन्दन 卐

बिरुदधरी सर्वज्ञनुं, जिन पासे आवे ;
मधुर वचने वीरजी, गौतम बोलावे ॥ १ ॥

पंचभूतमांहे थकी, जे ए उपजे विरणसे ;
वेद अर्थ विपरीतथी, कहो केम भवतरशे ॥ २ ॥

दान दया दम त्रिहुंपदे ए, जाणे तेहज जीव ;
ज्ञान विमल घन आतमा, सुख चेतन सदैव ॥ ३ ॥

फिर जं किंचि, नमुत्थुणं, अरिहंत चेइआणं, अन्नत्थ० बोल के एक नवकार का काउस्सग्ग करना। नमो अरिहंताणं बोल के फिर 'नमोर्हत् सिद्धाचार्योपाध्याय-सर्वसाधुभ्यः' कह के निम्नोक्त चार स्तुति कहना।

卐 प्रथम गणधर श्री गौतमस्वामीजी की स्तुति 卐

गुरु गणपति गाउं, गौतम ध्यान ध्याउं ;
सवि सुकृत सबाहु, विश्वमां पूज्य थाऊं ;
जग जीत बजाऊं, कर्मने पार जाऊं ;
नव निधि ऋद्धि पाऊं, शुद्ध समकित ठाऊं ॥ १ ॥

सवि जिनवर केरा, साधुमांहे वडेरा ;
दुग बन अधिकेरा, चउद सय सुभलेरा ;
दल्या दुरित अंधेरा, वंदीए ते सवेरा ;
गणधर गुण घेरा, (नाम) नाथ छे तेह मेरा ॥ २ ॥

सवि संशय कापे, जैन चरित्र छापे ;
तव त्रिपदी आपे, शिष्य सौभाग्य व्यापे ;
गणधर पद थापे, द्वादशांगी समापे ;
भवदुःख न संतापे, दास ने इष्ट आपे ॥ ३ ॥

करे जिनवर सेवा, जेह इन्द्रादि देवा ;
समकित गुण सेवा, आपता नित्य मेवा ;
भवजल निधि तरेवा, नौ समो तीर्थ सेवा ;
ज्ञानविमल लहेवा, लील लच्छी वरेवा ॥ ४ ॥

यहाँ नमुत्थुणं० जावंति चेइआइं० खमासमण देकर जावंत के वि साहू० बोल के निम्नोक्त स्तवन कहना—

卐 प्रथम गणधर श्रीगौतमस्वामीजी का स्तवन 卐

सकल समीहित पूरणो, गुरु गौतमस्वामी ;
इन्द्रभूति नामे भलो, प्रणमुं शिर नामी ;
हां रे प्रणमु शिरनामी ॥ १ ॥

मगधदेशमां उपन्यो, गोबर इति ग्राम ;
वसुभूति द्विज पृथिवी तणो, नंदन गुण धाम ॥ २ ॥
ज्येष्ठा नक्षत्रे जण्यो, सोवन वन देह ;
वरस पचास घरे वसी, धर्यो वीरशु नेह ॥ ३ ॥
त्रीस वरस छद्मस्थनो, पर्याय आराधे ;
बार वरस लगे केवली, पछी शिव सुख साधे ॥ ४ ॥
वीर मोक्ष पहोंच्या पछी, लह्या केवल मुक्ति ;
राजगृहे ते पामीया, सवि लब्धिनी शक्ति ॥ ५ ॥
बाणु वरस सवि आऊखुं, थया मास संलेखे ;
जेहने शिर निज कर दिये, ते केवल देखे ॥ ६ ॥
पंच सया मुनिनो धणी, सवि श्रुतनो दरियो ;
ज्ञान विमल गुणथी जिणे, तार्यो निज परियो ॥ ७ ॥

फिर सम्पूर्ण जयवीयराय० कहना । फिर "**श्रीगौतमस्वामीसर्वज्ञाय नमः**" यह सूत्र ११ बार गिनना । फिर

११ नवकार गिनना, फिर खड़े होकर 'श्रीगौतमस्वामी गणधर आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं०' कहके, प्रगट एक लोगस्स० कहना। इस प्रकार प्रथम गणधर भगवन्त की वन्दन-विधि पूर्ण हुई।

इसी भाँति शेष दस गणधर भगवन्तों की भी वन्दना करनी, परन्तु प्रत्येक गणधर भगवन्त के नाम, नमस्कार, चैत्यवन्दन, स्तुति और स्तवन अलग-अलग कहना और भी चार स्तुतियों में से पीछे की तीन गाथाएँ वही रखें और प्रथम स्तुति-थोय प्रत्येक गणधर की अलग की हुई है, वह कहना। इस तरह सर्वत्र विधि जानना।

(२)

卐 द्वितीय गणधर श्रीअग्निभूतिजी का देववंदन 卐

❀ चैत्यवंदन ❀

कर्मतणो संशय धरी, जिनचरणे आवे ;
अग्निभूति नामे करी, तव ते बोलावे ।। १ ।।
एक सुखी एक छे दुःखी, एक किंकर स्वामी ;
पुरुषोत्तम एके करी, केम शक्ति पामी ।। २ ।।
कर्म तणा परभावथी ए, सकल जगत मंडाण ;
ज्ञानविमलथी जाणीये, वेदारथ सुप्रमाण ।। ३ ।।

❀ स्तुति ❀

अग्निभूति सोहावे, जेह बीजो कहावे ;
गणधर पद पावे, बंधुने पक्ष आवे ;
मन संशय जावे, वीर ना शिष्य थावे ;
सुर नर गुण गावे, पुष्पवृष्टि वधावे ।। १ ।।

यह प्रथम स्तुति-थोय कह के शेष तीन प्रथम गणधर-देव के वंदन में जो 'सवि जिनवर केरा' वे तीन स्तुति-थोय यहाँ पर कहना । इसी तरह सभी गणधर भगवन्तों की स्तुति में जानना ।

❀ स्तवन ❀

बीजा गणधर गाइए, अग्निभूति इति नाम ललना ;
वसुभूति द्विजपृथिवी मायनो, नंदन गुण अभिराम;
ललना० ।। १ ।।

गोबर गाम मगधदेशे, गौतम गोत्र रतन्न, ललना ;
कृतिका नक्षत्रे जनमियो, संशय कर्मनो (मर्म) मन्न;
ललना० ।। २ ।।

वरस छेंतालीश घर वस्या, व्रत पर्याय बार, ललना ;
सोल वरस केवलपणे, पंचसया परिवार, ललना० ।।३।।
चिहुंत्तेर वरसनु आऊखु, पाली पाम्या सिद्धि, ललना ;
मास भक्त संलेषणा, पूर्ण ऋद्धि समृद्धि, ललना० ।।४।।

वीर थकां शिव पामीया , राजगृही सुखकार, ललना ;
कंचन कान्ति झलहले , ज्ञानविमल गुणधार, ललना०
॥ ५ ॥

(३)

卐 तृतीय गणधर श्रीवायुभूतिजी का देववन्दन 卐

❀ चैत्यवंदन ❀

वायुभूति त्रीजो कह्यो , तस संशय एह ;
जीव शरीर बेहु एक छे , पण भिन्न न देह ॥ १ ॥

ब्रह्मज्ञान तपे करी , ए आतम लहिए ;
कर्म शरीर थी वेगलो , ए वेद सद्दहिए ॥ २ ॥

ज्ञानविमल गुण धन धणीए , जड़मां केम होय एक ;
वीर वयणथी ते लह्यो , आणी हृदय विवेक ॥ ३ ॥

❀ स्तुति ❀

वायुभूति वली भाई , जेह त्रीजो सहाई ;
जेणे त्रिपदी पाई , जीत भंभा बजाई ;
जिनपद अनुयाई , विश्वमां कीर्ति गाई ;
ज्ञान विमल भलाई , जेहने नाम पाई ॥ १ ॥

(शेष तीन स्तुतियाँ प्रथम गणधर के देववंदन की भाँति कहनी।)

❀ स्तवन ❀

(महाविदेह क्षेत्र सोहामणुं ए देशी में)

श्रीजो गणपति गाइए, वसुभूति-पृथिवी नंद लाल रे;
स्वाति नक्षत्रे जाइओ, गौतमगोत्रे अमंद लाल रे ॥ १ ॥

मगधदेश गाम गोबरे, सगा सहोदर तीन लाल रे;
वरस बेंतालीश घरे वस्या, पछे जिनचरणे लीन लाल रे ॥ २ ॥

छद्मस्थ दश वरसनी, केवली वरस अढार लाल रे;
कंचन वर्ण सवि आउखुं, सित्तेर वरस ऊदार लाल रे ॥ ३ ॥

राजगृहीए शिव पामीया, मास भला सुखकार लाल रे;
पांचसे परिकर साधुनो, सवि श्रुतनो भण्डार लाल रे ॥ ४ ॥

वीर छते थया अणसणी, लब्धि सिद्धि दातार लाल रे;
ज्ञानविमल गुण आगरु, वायुभूति अणगार लाल रे ॥ ५ ॥

(४)

卐 चतुर्थ गणधर श्रीव्यक्तजी का देववंदन 卐

चैत्यवन्दन

पंच भूतनो संशयी, चौथो गणि व्यक्त ;
इन्द्रजालपरे जग कह्यो, तो किम तस शक्त ॥ १ ॥

पृथिवी पाणी देवता, इम भूतनी सत्ता ;
पण अध्यातम चिन्तने, नहि तेहनी ममता ॥ २ ॥

इम स्याद्वाद मते करी ए, टाल्यो तस सन्देह ;
ज्ञानविमल जिन चरणशुं, धरता अधिक स्नेह ॥ ३ ॥

* स्तुति *

(मालिनीवृत्त)

चौथो गणधर व्यक्त, धर्म-कर्म सुशक्त ;
सुर नर जस भक्त, सेवता दिवस नक्त ;
जिनपद अनुरक्त, मूढता विप्रमुक्त ;
कृत करम विमुक्त, ज्ञानलीला प्रसक्त ॥ १ ॥

(शेष तीन स्तुतियाँ प्रथम गणधर के देववन्दन की भाँति कहनी) ।

※ स्तवन ※

(झुंमखडानी देशी में)

चौथो गणधर चोंपशुरे , वन्दुं चित्तधरी भाव ;
सलुणे साजनां , कोल्लाग सन्निवेशे थयो रे,
पाम्यो भव जल नाव, सलुणे० ॥ १ ॥

धनमित्र द्विज वारुणी प्रिया रे, नंदन दिये आणंद सलुणे;
श्रवण नक्षत्रे जनमियो रे, भारद्विज गोत्र अमंद, सलुणे०
॥ २ ॥

वरस पचास घरे रह्या रे, बार छद्मस्थ पर्याय सलुणे;
वरस अढार केवली रे, वरस एंशी सवि आय, सलुणे
॥ ३ ॥

पांचशे शिष्य कंचन वने रे , सम्पूर्ण श्रुतलब्धि सलुणे ;
मास भक्त राजगृहे रे, वीर थके लह्या सिद्धि, सलुणे०
॥ ४ ॥

पढम संघयण संस्थान छे रे, वीर तणो ए शिष्य सलुणे;
ज्ञानविमल तेजे करी रे , दीये अधिक जगीश सलुणे०
॥ ५ ॥

(५)

卐 पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामीजी का देववन्दन 卐

❀ चैत्यवन्दन ❀

सोहमस्वामीने मने, छे संशय एहवो ;
जे ईहां होय जेहवो, परभव ते तेहवो ॥ १ ॥

शाली थकी शाली नीपजे, पण भिन्न न थाय ;
सुणी एहवो निश्चय नथी, इम कहे जिनराय ॥ २ ॥

गोमयथी विंछी होये ए, एम विसदृश पण होय;
ज्ञानविमल मति शुं करो, वेदारथ शुद्ध जोय ॥ ३ ॥

❀ स्तुति ❀

(मालिनीवृत्त)

गणधर अभिराम, सोहमस्वामि नाम ;
जित दुर्जय काम, विश्वमां वृद्धिमाम ;
दुप्प सह गणि जाम, तिहां लगे पट्ट ठाम ;
बहु दौलत दाम, ज्ञान (विज्ञान) विमलधाम ॥ १ ॥

शेष तीन स्तुतियाँ प्रथम गणधर के देववन्दन की भांति कहनी) ।

* स्तवन *

(देशी-नायकानी)

सोहम गणधर पांचमा रे लाल,
अग्निवेशायन गोत्र सुखकारी रे;
कोल्लाग सन्निवेशे थयो रे लाल,
भद्दिल्ला धम्मिल पुत्र सुखकारी रे, सोहम० ॥ १ ॥

उत्तरा फाल्गुनीए जण्यो रे लाल,
पंचसया परिवार सुखकारी रे;
वरस पचास घरे रह्या रे लाल,
व्रत बेंतालीस सार सुखकारी रे, सोहम० ॥ २ ॥

आठ वरस केवलीपणे रे लाल,
एक शत वरसनुं आय सुखकारी रे;
वाधे पट्ट परम्परा रे लाल,
आज लगे जस थाय (यावत् दुप्पसहराय) सुखकारी रे
सोहम० ॥ ३ ॥

संपूरण श्रुतनो धणी रे लाल,
सर्व लब्धि भण्डार सुखकारी रे;
वीस वरस जिनथी पछी रे लाल,
शिव पाम्या जयकार सुखकारी रे, सोहम० ॥ ४ ॥

उदय अधिक कंचन वने रे लाल,
शत शाखा विस्तार सुखकारी रे;
नाम थकी नवनिधि लहे रे लाल,
ज्ञानविमल गणधार सुखकारी रे, सोहम० ॥ ५ ॥

(६)

卐 षष्ठ गणधर श्री मण्डितजी के देववन्दन 卐

❀ चैत्यवन्दन ❀

छट्ठो मण्डित बंभणो, बन्ध मोक्ष न माने;
व्यापक विगुण जे आतमा, ते किम रहे छाने ॥ १ ॥
पण सावरण थकी न होय, केवल चिद्रूप;
तेह निवारण थई, होये ज्ञान सरूप ॥ २ ॥
तरणि किरण जिम वादले ए, होय निस्तेज सतेज;
ज्ञान गुण संशय हरी, वीर चरणे करे हेज ॥ ३ ॥

❀ स्तुति ❀

मणि मण्डित वारू, जेह छट्ठो करारू,
भवजलनिधि तारू, दिसतो जे विदारू;
सकल लब्धि धारू, कामगद तीव्र दारू;
दुश्मन मन वारू, तेहने ध्यान सारू ॥ १ ॥

(शेष तीन स्तुतियाँ प्रथम गणधर के देववन्दन की भाँति कहनी) ।

❀ स्तवन ❀

(जीहो जाण्युं अवधि प्रभुजी ने–ए देशी में)

जीहो छट्ठो मंडित गणधरुं,
जीहो मौर्य सन्निवेश गाम ;
जीहो विजया माता जेहनी,
जीहो धनदेव जनकनुं नाम ;
भविकजन वंदो गणधरदेव ;
जीहो वीर तणी सेवा करे,
जीहो भावधरी नित्यमेव, भविकजन० ॥ १ ॥
(ए आंकणी)

जीहो जन्म नक्षत्र जेहनुं मघा,
जीहो वरस त्रेपन घरवास ;
जीहो चौद वरस छद्मस्थमां,
जीहो केवल सोलह वास, भविकजन० ॥ २ ॥

जीहो त्यासी वरस सवि आउखुं,
जीहो सयल लब्धि आवास ;
जीहो सम्पूरण श्रुतनो धणी,
जीहो कंचन वर्णे खास, भविकजन० ॥ ३ ॥

जीहो मासतणी संलेखणा,
जीहो आराधी अतिसार ;
जीहो वीर छते शिव पामीया,
जीहो उट्ठसया परिवार, भविकजन० ॥ ४ ॥

जीहो वशिष्ट गोत्र सोहामणुं,
जीहो नाम थकी सुखथाय ;
जीहो ज्ञानविमल गणधर तणा,
जीहो वाधे सुजस सवाय, भविकजन० ॥ ५ ॥

(७)

卐 सप्तम गणधर श्रीमौर्यपुत्र का देववन्दन 卐

❀ चैत्यवन्दन ❀

सातमो मौर्यपुत्र जे, कहे देवन दीसे ;
वेद पदे जे भाखिया, तीहां मन नवि हीसे ॥ १ ॥

यज्ञ करतो लहे सर्ग, ए वेदनी वाणी ;
लोकपाल इन्द्रादिक, सत्ता किम जाणी ॥ २ ॥

इम सन्देह निराकरी ए, वीर वयणथी तेह ;
ज्ञानविमल जिनने कहे, हुं तुम पगनी खेह ॥ ३ ॥

❀ स्तुति ❀

(मालिनी वृत्त)

मौर्यपुत्रगणेश , सातमो वीर शिष्य ,
नहिं रागने रीश , जागतो छे जगीश ;
नमे सुरनरईश , अंग लक्षण दुतीश ,
ज्ञानविमल सूरीश , संथूणे रात दीश ।। १ ।।

(शेष तीन स्तुतियाँ प्रथम गणधर के देववन्दन की तरह कहनी) ।

❀ स्तवन ❀

(कर्म न छोड़े रे प्राणीया–ए देशी में)

मौर्यपुत्र गणि सातमो , मौर्य सन्निवेश गाम ;
देवी विजया रे माडली , मोरीय जनकनुं नाम-
वन्दो गणधर गुणनीलो ।। १ ।।
(ए आंकणी)

रोहिणी नक्षत्र जेहनुं , जनम चन्दशुं जोग ;
पांसठ वरस घरे रह्या , दशचउ छउमत्थे जोग-
वन्दो गणधर गुणनीलो ।। २ ।।

सोलह वरस लगे केवली, वरस पंचाणु रे आय;
उद्धसय मुनिवर जेहने , परिवारे सुखदाय-
वन्दो गणधर गुणनीलो ।। ३ ।।

वीर छतां शिवसुख लह्यो, मास संलेखणा लीध;
राजगृहे गुणना धणी , ज्ञानविमल सुख दीध-
वन्दो गणधर गुणनीलो ।। ४ ।।

(८)

卐 अष्टम गणधर श्रीअकम्पितजी का देववन्दन 卐

❀ चैत्यवन्दन ❀

अकम्पित द्विज आठमो , संशय छे तेहने ;
नारक होय परलोकमां, ए मिथ्याजनने ।। १ ।।
जे द्विज शुद्रासन करे , तस नारक सत्ता ;
दाखो वेदे नवि कहे , ए तुज उन्मत्ता ।। २ ।।
मेरुपरे शाश्वत कहे ए , प्रायिक एहवा भाखी ;
ते संशय दूरे कर्यो , ज्ञानविमल जिन साखी ।। ३ ।।

❀ स्तुति ❀

(मालिनीवृत्त)

अकम्पित नमीजे , आठमो जे कहीजे ,
तस ध्यान धरीजे , पाप संताप छीजे ;
समकित सुख दीजे , प्रहसमे नाम लीजे ,
दुश्मन सवि खीजे , ज्ञान लीला लहीजे, ।। १ ।।

(शेष तीन स्तुतियाँ प्रथम गणधर के देववन्दन की भाँति कहनी)।

❀ स्तवन ❀

(वाडी फूली अति भली मन भमरा रे–ए देशी में)

अकम्पित नामे आठमो भविवंदो रे,
गणधर गुणनी खाण सदा आणंदो रे;
मिथिला नगरी दीपती, भवि वंदो रे,
भण गौतम गोत्र प्रधान, सदा आणंदो रे ।। १ ।।
देवनामे जेहनो पिता, भवि वंदो रे,
जयंति जस मास, सदा आणंदो रे;
उत्तराषाढाए जण्या, भवि वंदो रे,
चातुर्वेदी कहाय, सदा आणंदो रे ।। २ ।।
वरस अडतालीश घर रह्या, भवि वंदो रे,
छद्मस्थे नववास, सदा आणंदो रे;
एकवीश वरस लगे केवली - भवि वंदो रे,
वीर चरण कज वास - सदा आणंदो रे ।। ३ ।।
वरस अठ्योत्तेर आउखुं - भवि वंदो रे,
त्रण सय मुनि परिवार - सदा आणंदो रे;
सम्पूर्ण श्रुत केवली - भवि वंदो रे,
लब्धितणा भण्डार - सदा आणंदो रे ।। ४ ।।

कंचनवन मास अणसणी - भवि वंदो रे ,
वीर छते गुणगेह - सदा आणंदो रे ;
राजगृहे शिव पामीया - भवि वंदो रे ,
ज्ञान गुणे नवमेह - सदा आणंदो रे ।। ५ ।।

(६)

卐 नवम गणधर श्रीअचलभ्राता का देववन्दन 卐

❀ चैत्यवन्दन ❀

अचलभ्रातने मन वस्यो , संशय एक खोटो ;
पुण्य-पाप नवि देखीए , ए अचरिज मोटो ।। १ ।।
पण प्रत्यक्षे देखिये , सुख - दुःख घणेरां ;
बीजानी परे दाखियां , वेदपदे बहोत्तेरां ।। २ ।।
समजावीने शिष्य कर्यो ये , वीरे आणी नेह ;
ज्ञानविमल पाम्या पछी, गुण प्रगट्यो तस देह ।। ३ ।।

❀ स्तुति ❀

(मालिनीवृत्त)

नवमो अचलभ्रात , विश्वमां जे विख्यात ,
सुत नंदा कुंदादावत मात धर्म ;
कृत संशय पात , संयमे पारिजात ,
दलित दुरित व्रात , ध्यान श्री सुख शात ।। १ ।।

(शेष तीन स्तुतियाँ प्रथम गणधर के देववन्दन की भाँति कहनी)।

❀ स्तवन ❀

(नमो रे नमो श्री शत्रुंजय गिरिवर–ए देशी में)

नवमो अचलभ्रात कहीजे, गणधर गिरुओ जाणो रे;
कोशला नयरीए उपनो, हारीय गोत्र वखाणो रे,
भाव धरीने भवियण वंदो ॥ १ ॥

नंदा नामे जेहनी माता, वसुदेव जनक कहीजे रे;
मृगशिर नक्षत्र जन्म तणुं जस, कंचन कान्ति भणीजे रे,
भाव धरीने भवियण वंदो ॥ २ ॥

वरस छेंतालीश घरमां वसीया, रसीया व्रते वरस बार रे;
चउद वरस केवल पर्याय, तीन सया परिवार रे,
भाव धरीने भवियण वंदो ॥ ३ ॥

बहोत्तेर वरस आउ परिमाणो, लब्धि सिद्धि सुविलासी रे;
सम्पूरण श्रुतधर गुणवन्ता, वीर चरण नीतु वासी रे,
भाव धरीने भवियण वंदो ॥ ४ ॥

वीर छते राजगृही नगरे, मास भक्ते शिव पाम्या रे;
ज्ञानविमल थुणी सवि सुरवर, आवी चरणे नाम्या रे,
भाव धरीने भवियण वंदो ॥ ५ ॥

(१०)

卐 दशम गणधर श्रीमेतार्यजी का देववन्दन 卐

❀ चैत्यवंदन ❀

परभवनो संदेह छे, मातार्य चित्ते ;
भाखे प्रभु तव तेहने, दाखो बहु जुगते ।। १ ।।
विज्ञान घन पद तणो, ए अर्थ विचारे ;
परलोके गमनागमे, मन निश्चय धारे ।। २ ।।
पूर्वारथ बहुपरे कहीये, छेद्यो संशय तास ;
ज्ञानविमल प्रभु वीरने, चरणे थयो ते दास ।। ३ ।।

❀ स्तुति ❀

(मालिनीवृत्त)

दशम गणधर वखाणो, आर्य मेतार्य जाणो,
लह्यो शुभ गुण ठाणो, वीर सेवा मण्डाणो ;
अ छे ओहिज टाणो, कर्म ने दाज आणो,
ए परम दुजाणो, ज्ञान गुण चित्त आणो ।। १ ।।

(शेष तीन स्तुतियाँ प्रथम गणधर के देववन्दन की भाँति कहनी) ।

❀ स्तवन ❀

(आदर जीव क्षमागुण आदर–ए देशी में)

मेतारज आरज गणी दशमो , सुप्रभाते नित्य नमीये रे;
मतुंगिय सन्निवेशे , वत्सभूमि तेहने ध्याने रमीये रे ,
गणधर गुणवंताने वंदो ।। १ ।।
(ए आंकणी)

वरुणादेवी जेहने छे माता , दत्त नामक जस कहिये रे;
कोडिन गोत्र नक्षत्र जन्मनुं , अशिवनी नामे लहिये रे ,
गणधर गुणवंताने वंदो ।। २ ।।

वरस छत्रीस रह्या घर वासे , छद्मस्थ दस वरिसाजी;
सोल वरस केवलि पर्याये , त्रणसें मुनिवर शिष्याजी ,
गणधर गुणवंताने वंदो ।। ३ ।।

बासठ वरस सवि आउखुं पालि, त्रिपदीना विस्तारीजी;
कनक कान्ति सवि लब्धिसिद्धिना, ज्ञानादिक गुणधारीजी,
गणधर गुणवंताने वंदो ।। ४ ।।

मास संलेषण राजगृहीमां, वीर थके शिव लहियाजी;
ज्ञानविमल चरणादिकना गुण, किणही न जाये कहियाजी,
गणधर गुणवंताने वंदो ।। ५ ।।

(११)

卐 एकादश गणधर श्रीप्रभासजी का देववन्दन 卐

❀ चैत्यवन्दन ❀

एकादशम प्रभासनाम, संशय मन धारे ;
भव निर्माण लहे नहिं, जीव इणे संसारे ।। १ ।।
अग्निहोत्र नित्ये करे, अजरामर पामे ;
वेदारथ इम दाखवे, तस संशय वामे ।। २ ।।
वीर चरणनो रागियो, ए तेह थयो तत्काल ;
ज्ञानविमल जिन चरण तणी, आण वहे निज भाल ।३।

❀ स्तुति ❀

एकादश प्रभास, पूरतो विश्व आश ,
सुरनर जस वास, वीरचरणे निवास ;
जग सुजस सुवास, विस्तर्यो ज्युं बरास ,
ज्ञानविमल निवास, हुं जपुं नाम तास ।। १ ।।

(शेष तीन स्तुतियाँ प्रथम गणधर के देववन्दन की भाँति कहनी) ।

❀ स्तवन ❀

(कनक कमल पगलां ठवे–ए देशी में)

गणधर जे अगियारमो ए, ए आशा पूरण प्रभास ;
नमो भवि भावशुं ए, कोडिन गोत्र छे जेहनुं ए ,
राजगृहे जस वास–नमो भवि भावशुं ए ।। १ ।।

अतिभद्रा जस मावडी ए , बलभद्र नामे ताय–नमो० ;
पुष्य नक्षत्रे जनमीया ए , घर घर उत्सव थाय ,
नमो भवि भावशुं ए ।। २ ।।

सोल वरस घरमां वस्या ए, आठ वरस मुनिराय–नमो० ;
सोल वरस रह्या केवली ए , चालीस वरस सवि आय ,
नमो भवि भावशुं ए ।। ३ ।।

त्रण सय मुनि परिकर भलो ए, सम्पूरण श्रुतधार–नमो० ;
लब्धि निधान कंचन वने ए , करता भवि उपगार ,
नमो भवि भावशुं ए ।। ४ ।।

वीर छते शिव पामिया ए, मास संलेखन जास–नमो० ;
ज्ञानविमल कीरति घणी ए , सुंदर जिम कैलास ,
नमो भवि भावशुं ए ।। ५ ।।

।। इतिश्री एकादश गणधर देववन्दन सम्पूर्ण ।।

卐 ग्यारह गणधरों का साधारण चैत्यवन्दन 卐

एह गणधर एह गणधर, थया अग्यार ;
वीर जिनेसर पयकमले, रही भृंग परे जेह लीणा ,
संशय टाली आपणा , थया तेह जिनमत प्रवीणा ;
इन्द्र महोत्सव तिहां करे ए , वासक्षेप करे वीर ,
लब्धि-सिद्धिदायक होजो, ज्ञानविमल गुणे धीर ।। १ ।।

卐 सर्व गणधरों का साधारण चैत्यवन्दन 卐

सयल गणधर सयल गणधर, जेह जग सार;
सकल जिनेसर पयकमले, रही भृंग परे जेह लीण,
जिनमतनी त्रिपदी लही, थया जेह स्याद्वादे प्रवीण;
वासक्षेप जिनवर करे ए, इन्द्र महोत्सव सार,
उदय अधिक दिन दिन हुवे, ज्ञानविमल गुणधार ॥ १ ॥

卐 सर्व गणधरों की साधारण स्तुति 卐

चौदसयां बावन गणधर,
सवि जिनवरनो ए परिवार;
त्रिपदीना कीधा विस्तार,
शासन सुर सवि सान्निध्यकार ॥ १ ॥

(यह स्तुति चार बार कहनी चाहिए ।)

卐 सर्व गणधरों का साधारण स्तवन 卐

(सकल सदा फल पास–ए देशी में)

वंदु सवि गणधार, सवि जिनवरना ए सार;
सम चउरस संठाण, सविने प्रथम संघयण ॥ १ ॥

त्रिपदीने अनुसारे, विरचे विविध प्रकारे;
संपूरण श्रुतना भरिया, सवि भवजलनिधि तरिया ॥२॥

कनक वर्ण जस देह , लब्धि सकल गुण गेह ;
गणधर नामकर्म फरसी, अजर अमर थया हरसी ।।३।।

जनम जरा भव पाम्या , शिवसुंदरी सवि पाम्या ;
अक्षय अनंत सुख विलसे, तस ध्याने सवि मलशे ।। ४ ।।

प्रह समे लीजे ए नाम , मन वांछित लही काम ;
ज्ञानविमल घरण नूर , प्रगटे अधिक सनुरा ।। ५ ।।

सकल सुरासुर कोडी , पाय नमे कर जोड़ी ;
गुणवंतना गुण कहीये , तो शुद्ध समकित लहिये ।। ६ ।।

।। इति गणधर देववन्दन समाप्त ।।

जिनेश्वराष्टकम्

रचयिता : **पूज्याचार्यश्रीमद्‌विजयसुशीलसूरिः**

(पञ्चचामरवृत्तम्)

नमाम्यहं जिनेश्वरं नमाम्यहं जिनेश्वरं,
नमाम्यहं जिनोत्तमं नमाम्यहं जिनोत्तमम् ।
नमाम्यहं जिनाधिपं नमाम्यहं जिनाधिपं,
नमाम्यहं जिनप्रभुं नमाम्यहं जिनप्रभुम् ॥ १ ॥

स्मराम्यहं जिनेश्वरं स्मराम्यहं जिनेश्वरं,
स्मराम्यहं जिनोत्तमं स्मराम्यहं जिनोत्तमम् ।
स्मराम्यहं जिनाधिपं स्मराम्यहं जिनाधिपं,
स्मराम्यहं जिनप्रभुं स्मराम्यहं जिनप्रभुम् ॥ २ ॥

भजाम्यहं जिनेश्वरं भजाम्यहं जिनेश्वरं,
भजाम्यहं जिनोत्तमं भजाम्यहं जिनोत्तमम् ।
भजाम्यहं जिनाधिपं भजाम्यहं जिनाधिपं,
भजाम्यहं जिनप्रभुं भजाम्यहं जिनप्रभुम् ॥ ३ ॥

जपाम्यहं जिनेश्वरं जपाम्यहं जिनेश्वरं,
जपाम्यहं जिनोत्तमं जपाम्यहं जिनोत्तमम्।
जपाम्यहं जिनाधिपं जपाम्यहं जिनाधिपं,
जपाम्यहं जिनप्रभुं जपाम्यहं जिनप्रभुम् ॥ ४ ॥

गणाम्यहं जिनेश्वरं गणाम्यहं जिनेश्वरं,
गणाम्यहं जिनोत्तमं गणाम्यहं जिनोत्तमम्।
गणाम्यहं जिनाधिपं गणाम्यहं जिनाधिपं,
गणाम्यहं जिनप्रभुं गणाम्यहं जिनप्रभुम् ॥ ५ ॥

धराम्यहं जिनेश्वरं धराम्यहं जिनेश्वरं,
धराम्यहं जिनोत्तमं धराम्यहं जिनोत्तमम्।
धराम्यहं जिनाधिपं धराम्यहं जिनाधिपं,
धराम्यहं जिनप्रभुं धराम्यहं जिनप्रभुम् ॥ ६ ॥

भनाम्यहं जिनेश्वरं भनाम्यहं जिनेश्वरं,
भनाम्यहं जिनोत्तमं भनाम्यहं जिनोत्तमम्।
भनाम्यहं जिनाधिपं भनाम्यहं जिनाधिपं,
भनाम्यहं जिनप्रभुं भनाम्यहं जिनप्रभुम् ॥ ७ ॥

(अनुष्टुब्-वृत्तम्)

यः प्रातर्वै समुत्थाय, स्मरेद् जिनेश्वराष्टकम्।
विश्वे तस्य भयं नास्ति, सः प्राप्नोति सुखश्रियम् ॥ ८ ॥

□

श्रीगणधराष्टकम्

रचयिता : **पूज्याचार्य श्रीमद् विजयसुशीलसूरिः**

(अनुष्टुब्-वृत्तम्)

प्रभोर्वीरजिनेन्द्रस्य , गणेन्द्रमिन्द्रभूतिकम् ।
गौतमं लब्धिवन्तं वै , वन्देऽहं श्रुतकेवलीम् ॥ १ ॥

प्रभोर्वीरजिनेन्द्रस्य , गणेन्द्रमग्निभूतिकम् ।
गौतमगोत्ररत्नं वै , स्तुवेऽहं श्रुतकेवलीम् ॥ २ ॥

प्रभोर्वीरजिनेन्द्रस्य , गणेन्द्रं वायुभूतिकम् ।
पुत्रं पृथ्वी-वसुभूत्यो - र्वन्देऽहं श्रुतकेवलीम् ॥ ३ ॥

प्रभोर्वीरजिनेन्द्रस्य , विख्यातं व्यक्तनामकम् ।
गणधरं चतुर्थं वै , स्तुवेऽहं श्रुतकेवलीम् ॥ ४ ॥

प्रभोर्वीरजिनेन्द्रस्य , सुधर्मस्वामिनं शुभम् ।
गणेन्द्रं पञ्चमं ख्यातं , वन्देऽहं श्रुतकेवलीम् ॥ ५ ॥

प्रभोर्वीरजिनेन्द्रस्य, मण्डितं मुनिमण्डनम्।
षष्ठं गणधरं श्रेष्ठं, स्तुवेऽहं श्रुतकेवलीम्॥ ६॥

प्रभोर्वीरजिनेन्द्रस्य, मौर्यपुत्रं च सप्तमम्।
गणीन्द्रं सद्गुणीं ख्यातं, वन्देऽहं श्रुतकेवलीम्॥ ७॥

प्रभोर्वीरजिनेन्द्रस्य, गणधरमकम्पितम्।
जयन्ति-देवयोः सूनुं, स्तुवेऽहं श्रुतकेवलीम्॥ ८॥

प्रभोर्वीरजिनेन्द्रस्य, गणीन्द्रं नवमं वरम्।
प्रसिद्धमचलभ्रातं, वन्देऽहं श्रुतकेवलीम्॥ ९॥

प्रभोर्वीरजिनेन्द्रस्य, मेतार्यं दत्तनन्दनम्।
गणीन्द्रं दशमं श्रेष्ठं, स्तुवेऽहं श्रुतकेवलीम्॥ १०॥

प्रभोर्वीरजिनेन्द्रस्य, प्रभासमन्तिमं लघुम्।
एकादशं गणीन्द्रं वै, वन्देऽहं श्रुतकेवलीम्॥ ११॥

प्रभोर्वीरजिनेन्द्रस्यै - तद् वै **गणधराष्टकम्**।
प्रातः पठन्ति नित्यं ये, प्राप्नुवन्ति सुखश्रियम्॥ १२॥

卐 श्रीगौतमस्वाम्यष्टकम् 卐

श्रीइन्द्रभूतिं वसुभूतिपुत्रं, पृथ्वीभवं गौतमगोत्ररत्नम् ।
स्तुवन्ति देवाऽसुरमानवेन्द्राः, स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥१॥

श्रीवर्द्धमानात् त्रिपदीमवाप्य, मुहूर्त्तमात्रेण कृतानि येन ।
अङ्गानि पूर्वाणि चतुर्दशाऽपि, स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥२॥

श्रीवीरनाथेन पुरा प्रणीतं, मन्त्रं महानन्दसुखाय यस्य ।
ध्यायन्त्यमी सूरिवराः समग्राः, स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥३॥

यस्याभिधानं मुनयोऽपि सर्वे, गृह्णन्ति भिक्षाभ्रमणस्य काले ।
मिष्टान्नपानाम्बरपूर्णकामाः, स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥४॥

अष्टापदाद्रौ गगने स्वशक्त्या, ययौ जिनानां पदवन्दनाय ।
निशम्य तीर्थातिशयं सुरेभ्यः, स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥५॥

त्रिपञ्चसंख्याशततापसानां, तपः कृशानामपुनर्भवाय ।
अक्षीणलब्ध्या परमान्नदाता, स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥६॥

सदक्षिणं भोजनमेव देयं, साधर्मिकं सङ्घसपर्ययेति ।
कैवल्यवस्त्रं प्रददौ मुनीनां, स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥७॥

शिवं गते भर्त्तरि वीरनाथे, युगप्रधानत्वमिहैव मत्वा ।
पट्टाभिषेको विदधे सुरेन्द्रैः, स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥८॥

त्रैलोक्यबीजं परमेष्ठिबीजं सज्ज्ञानबीजं जिनराजबीजम् ।
यन्नाम चोक्तं विदधाति सिद्धिं, स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ।९।

श्रीगौतमस्याष्टकमादरेण, प्रबोधकाले मुनिपुङ्गवा ये ।
पठन्ति ते सूरिपदं सदैवा-नन्दं लभन्ते सुतरां क्रमेण ॥१०॥

□□□

श्री गौतमस्वामी का छन्द

वीर जिनेश्वर केरो शिष्य, गौतम नाम जपो निशदिश ।
जो कीजे गौतमनु ध्यान, तो घर विलसे नवे निधान ।। १ ।।
गौतमनामे गिरिवर चढ़े, मन वांछित हेला संपजे ।
गौतम नामे नावे रोग, गौतम नामे सर्व संयोग ।। २ ।।
जे वेरी विरुआ वंकड़ा, तस नामे नावे ढूंकड़ा ।
भूत प्रेत नवि मंडे पाण, ते गौतमना करूं वखाण ।। ३ ।।
गौतम नामे निर्मलकाय, गौतम नामे वाधे आय ।
गौतम जिनशासन शणगार, गौतम नामे जय-जयकार ।। ४ ।।
शाल दाल सुरहा घृत गोल, मन वांछित कापड तंबोल ।
घर सुधरणी निर्मल चित्त, गौतम नामे पुत्र विनीत ।। ५ ।।
गौतम उदये अविचल भाण, गौतम नाम जपो जग जाण ।
मोटा मन्दिर मेरु समान, गौतम नामे सफल विहाण ।। ६ ।।
घर मयगल घोड़ानी जोड़, वारु पहोंचे वंछित कोड़ ।
महियल माने मोटा राय, जो त्रूठे गौतमना पाय ।। ७ ।।
गौतम प्रणम्या पातक टले, उत्तम नरनी संगत मले ।
गौतम नामे निर्मल ज्ञान, गौतम नामे वाधे वान ।। ८ ।।
पुण्यवंत अवधारो सहु, गुरु गौतमना गुण छे बहु ।
कहे **लावण्य** समय कर जोड़, गौतम तूठे संपत्ति क्रोड़ ।। ९ ।।

।। श्रीगौतमस्वामी का मन्त्र ।।

"।। ॐ ह्रीँ श्रीँ अरिहंत उवज्झाय गौतमस्वामिने नमो नमः ।।"

□

श्रीमद्‌विजयनेमिसूरीश्वर-स्तुत्यष्टक

कर्त्ता—पंन्यास श्रीसुशीलविजयजी गणिवर्य.

(वर्त्तमान—पू. श्रा. श्रीविजयसुशीलसूरीश्वरजी म.सा.)

(मन्दाक्रान्ता-छन्दमां)

(बोधागाधं सुपदपदवी नीरपुराभिरामं-ए रागमां)

जेणे जन्मी लघुवयथकी संयम श्रेष्ठ पाल्युं,
ने शाताथी जीवन सघलुं धर्मकार्ये ज गाल्युं।
साध्या बन्ने विमल दिवसो जन्म ने मृत्यु केरा,
वन्दुं तेवा जगगुरुवरा **नेमिसूरीश** हीरा ॥ १ ॥

जेनी कीर्त्ति प्रवर प्रसरी विश्वमांहे अनेरी,
गावे ध्यावे जगत जनता पूज्य भावे भलेरी।
जोतां जेने परम पुरुषो पूर्वना याद आवे,
ने आनंदे भविजन सदा भव्य उल्लास पावे ॥ २ ॥

मोटा ज्ञानी जगत भरना शास्त्रनो पार पाम्या,
ने न्यायोना नयमितितणा सार ग्रन्थो बनाव्या।
वाणी जेनी अमृत सम ने गर्जना सिंह जेवी,
ने तेजस्वी विमल प्रतिभा सूर्यना तेज जेवी ॥ ३ ॥

जेणे बिम्बो बहुजिनतणा भव्य पासे भराव्यां,
ने धर्मोना बहुविषयना श्रेष्ठ शास्त्रो लखाव्यां।
नाना ग्रन्थो अभिनव अने प्राच्य सारा छपाव्यां,
ने तीर्थोना अनुपम महा कैक संघो कढाव्यां ॥ ४ ॥

जीर्णोद्धारो जिनभवननां नव्य चैत्यो घणेरा,
तीर्थोद्धारो जस सुवचने कैंक दीपे अनेरा।
आत्मोद्धारो भविक जनना खूब कीधा उमंगे,
भूपोद्धारो जगत भरमां कीधला कैंक रंगे॥ ५॥

सौराष्ट्रे श्री मरुधर अने मेदपाट प्रदेशे,
देशोदेशे सतत विचरी गूजरात प्रदेशे।
सारां सारां अनुपम घणां धर्मना कार्य कीधां,
सौए जेनां वचन कुसुमो शीघ्र झीली ज लीधां॥ ६॥

जेणा यत्ने थइ सफलता साधु-संमेलने जे,
तेथी लाध्यो सुयश विमलो विश्वमां आत्मतेजे।
आचार्यादि प्रवर पदथी भूषिता कैंक कीधा,
रंगे जेणे जगत भरने योग ने क्षेम दीधा॥ ७॥

दीवालीनी विमल कुखने जेह दीपावनारा,
लक्ष्मीचन्द्र - प्रवर कुलने नित्य शोभावनारा।
सौराष्ट्रे श्री-मधुपुर तणी कीर्त्ति विस्तारनारा,
वन्दुं छुं ते विमल गुणना धाम ने आपनारा॥ ८॥

(हरिगीत छन्दमां)

तपगच्छनायक जगगुरु **श्रीनेमिसूरीश्वर** तणा,
पट्ट गगने भानु सम **लावण्यसूरिरायना**।
शिष्य **दक्ष** मुनीश केरा **सुशील** शिष्ये ए रच्युं,
निज शिष्य **श्रीविनोदनी** विनती थकी जे उर जच्युं॥ ९॥

□

गणधरवादः

[संस्कृतभाषायाम्]

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

— प्रणेता —

卐 आचार्य श्रीमद् विजय सुशीलसूरिः 卐

卐 卐

श्रीगणधरवादः

(संस्कृतभाषा में)

विषयानुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
卐	मंगलाचरणम्	१
卐	प्रभोर्वीरस्य जन्म-दीक्षा-साधना च	२
卐	केवलज्ञानोत्पत्तिः	२
卐	समवसरणस्य रचना	३
卐	संशयवन्तः श्रीइन्द्रभूत्यादि एकादशद्विजाः	६
१	प्रथमो गणधरः श्रीइन्द्रभूतिः (जीवसंशयः)	८
२	द्वितीयो गणधरः श्रीअग्निभूतिः (कर्मसंशयः)	२१
३	तृतीयो गणधरः श्रीवायुभूतिः (तज्जीवसंशयः)	२६
४	चतुर्थो गणधरः श्रीव्यक्तः (पञ्चभूतसंशयः)	२९
५	पञ्चमो गणधरः श्रीसुधर्माभिधः (यो यादृशः स तादृशः संशयः)	३२
६	षष्ठो गणधरः श्रीमण्डितः (बन्ध-मोक्षसंशयः)	३४
७	सप्तमो गणधरः श्रीमौर्यपुत्रः (देवसंशयः)	३८
८	अष्टमो गणधरः श्रीअकम्पितः (नारकसंशयः)	४१
९	नवमो गणधरः श्रीअचलभ्राता (पुण्य-पापसंशयः)	४८
१०	दशमो गणधरः श्रीमेतार्यः (परलोकसंशयः)	४७
११	एकादशमो गणधरः श्रीप्रभासः (मोक्षसंशयः)	५०
卐	एकादशमुख्याः	५४
卐	प्रशस्तिः	५५

□

卐 ॐ ह्रीँ अर्हँ नमः 卐

॥ वर्त्तमानशासनाधिपति-श्रीमहावीरस्वामिने नमः ॥

॥ अनन्तलब्धिनिधानाय श्रीगौतमस्वामिने नमः ॥

॥ शासनसम्राट्-श्रीनेमिसूरीश्वरपरमगुरवे नमः ॥

॥ साहित्यसम्राट्-श्रीलावण्यसूरीश्वरप्रगुरवे नमः ॥

श्रीगणधरवादः

❀ मङ्गलाचरणम् ❀

नत्वा वीरं जिनेन्द्रं वै,
जिनवाणीं च सद्गुरुम् ।
श्रीगणधरवादोऽयं,
ज्ञेयार्थं लिख्यते मया ॥

❀ प्रभोर्वीरस्य जन्म-दीक्षा-साधना च ❀

त्रिश्ववन्द्यो विश्वविभुः श्रीसिद्धार्थनृपकुलदीपकस्त्रिशला-देवीनन्दनः काश्यपगोत्रीयः वर्त्तमानशासनाधिपतिश्चरम-तीर्थङ्करो देवाधिदेवः **श्रमण भगवान् श्री महावीरः**, अस्मिन् जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे दक्षिणार्द्धभरते मध्यखण्डे सुप्रसिद्धभारतदेशीय-क्षत्रियकुण्डग्रामनगरे वर्त्तमानकालीन २५१३ वर्षतमे पूर्वे चैत्रशुक्लत्रयोदश्यां तिथौ जन्माऽभूत् । तदनु त्रिंशद्तमे वर्षे मार्गशीर्ष (गुर्जरीय कार्त्तिक) कृष्ण-दशम्यां तिथौ गृहस्थावासं गृहस्थजीवनं च सर्वदा त्यक्त्वा पारमेश्वरीं प्रव्रज्यां (दीक्षां) गृहाण ।

❀ केवलज्ञानोत्पत्तिः ❀

निजदीक्षादिनमारभ्य चतुर्थं मनःपर्यवज्ञानं प्राप्य सार्द्ध-द्वादशवर्षतमपर्यन्तं विविधप्रकारं विविधं तपं कृत्वा, तन्मध्ये प्रतिकूलानुकूलानेकोपसर्गान् समभावेन सहनं कृत्वा तथा ज्ञानावरणीयादिचतुष्कघातिकर्मणां घातं कृत्वैव वैशाख-शुक्लदशम्यां तिथौ लोकालोकप्रकाशकं पञ्चमज्ञानं केवलज्ञानं प्राप्तवन्तः ।

❀ समवसरणस्य रचना ❀

तन्निमित्ताऽमरैः समवसरणस्य रचना कृता । तत्र

प्रभुः तस्मिन्नेवावसरे मिलितेषु सुराऽसुरेषु भूमौ निष्फलां वृष्टिमिव निष्फलां देशनां क्षणं दत्त्वा, अपापापुर्यां महासेन-वने जगाम । तत्र च वैशाखशुक्लैकादश्यां देवैः समागत्य नव्यं दिव्यं समवसरणं विरचितम् । तस्मिन् समवसरणे-ऽशोकवृक्षाद्यष्टप्रातिहार्ययुक्तज्ञानातिशयादि चतुष्कातिशय-सहितश्चेति द्वादशगुणैः समलंकृतः पूर्वादिचतुष्दिशाया दिव्यसिंहासनोपरि विराजवन्तोऽर्हन् सर्वज्ञः श्रीमहावीर **प्रभुः** सर्वोत्कृष्टेन वर्त्तते ।

तत्र समवसरणे इन्द्रादिदेवाः प्रभोः जयजयध्वनिभिः दिग्दिगन्तं स्फोटयन्तः दिव्यदुन्दुभिदमदमादिवाद्यैः आकाशं स्फोटयन्तश्च वाद्यमानशब्दकर्णनोत्फुल्ल-नयनगगनावलोक-नोपलब्धसर्वदेववृन्दानां समूहैर्युताः गगनमार्गेण प्रभोः दर्शनार्थं तत्रागताः । तस्मिन्नेवावसरे तत्र यज्ञं कारयतः सोमिल-नामकद्विजस्य गृहे बहवः याज्ञिकाऽग्रजन्मानः ब्राह्मणाः मिलिताः सन्ति । तं देवघोषं श्रुत्वा तत्र यज्ञपाटके मनुष्यास्तत्र तुष्टाः । अहो ! याज्ञिकैः इष्टाः देवाः किल आगता अत्रेति ।

संशयवन्तः श्रीइन्द्रभूत्यादि एकादश द्विजाः

तत्र चतुर्दशविद्याविशारदाः सर्वज्ञाटोपधारकाः महन्तो गुरुतराः मूर्धन्याः एकादशसङ्ख्यकाः द्विजाः निजविद्यार्थी-

विशालपरिवारसहिताः सन्ति। किं नामानो वा ते द्विजाः इति ? उच्यते। तेषु च (१) प्रथमोऽत्र **इन्द्रभूतिः**, (२) द्वितीयः पुनर्भवति **अग्निभूतिः**, (३) तृतीयो **वायुभूतिः**, (४) चतुर्थो **व्यक्तः**, (५) पञ्चमः **सुधर्मास्वामी**, (६) षष्ठो **मण्डितः**, (७) सप्तमो **मौर्यपुत्रः**, (८) अष्टमोऽ**कम्पितः**, (९) नवमोऽ**चलभ्राता**, (१०) दशमो **मेतार्यः**, (११) एकादशः **प्रभासश्चे**ति।

क्रमशः एते नामानि द्विजाः प्रधानाः पण्डिताः सन्ति। एतेषां **इन्द्रभूतिः १, अग्निभूतिः २, वायुभूतिः ३**, नामानस्त्रयः सहोदराश्चतुर्दशविद्याविशारदाः साक्षराः सन्ति। (१) आद्यस्य श्रीइन्द्रभूतिनाम्नः पण्डितस्य **'जीवविषये संशयः'** अर्थात् **'जीवोऽस्ति किं वा नेति ?'** (२) द्वितीयस्य श्रीअग्निभूतिपण्डितस्य **'कर्मविषये संशयः'** अर्थात् **'कर्मोऽस्ति किं वा नेति ?'** (३) तृतीयस्य श्रीवायुभूति—नाम्नः पण्डितस्य **'तज्जीवतच्छरीरमितिविषये संशयः'** अर्थात् **'तज्जीवेति किं तदेव शरीरं स एव जीवः किं वाऽन्यः'** इति। न **पुनर्जीवसत्तायां** तस्य संशयः। (४) चतुर्थस्य श्रीव्यक्तनाम्नः पण्डितस्य **'भूतेषु संशयः'** अर्थात् **'किं पृथिव्यादीनि पञ्च भूतानि सन्ति किं वा नेति ?'**। (५) पञ्चमस्य श्रीसुधर्मानाम्नः पण्डितस्य **'यो यादृशः**

स तादृशः' विषये इति संशयः, अर्थात् **'किं यो जीवो यादृशः इह भवे सोऽन्यस्मिन्नपि भवे तादृश एव उतान्यथा ?'** इति संशयः। (६) षष्ठस्य श्रीमण्डितनाम्नः पण्डितस्य **'बन्ध-विषये'** संशयः, अर्थात् **'जीवस्य कर्मबन्धोऽस्ति किं वा नेति ?'**। (७) सप्तमस्य श्रीमौर्यपुत्रनाम्नः पण्डितस्य **'देवविषये'** संशयः, अर्थात् **'देवोऽस्ति किं वा नेति ?'**। (८) अष्टमस्य श्रीअकम्पितनाम्नः पण्डितस्य **'नारकविषये'** संशयः, अर्थात् **'नारकः (नैरयिकः) अस्ति किं वा नेति ?'**। (९) नवमस्य श्रीअचलभ्रातानाम्नः पण्डितस्य **'पुण्यविषये'** संशयः, अर्थात् **'पुण्योऽस्ति किं वा नेति ?'**। (१०) दशमस्य श्रीमेतार्यनाम्नः पण्डितस्य **'परलोकविषये'** संशयः, अर्थात् **'परलोकोऽस्ति किं वा नेति ?'**। (११) एका-दशमस्य श्रीप्रभासनाम्नः पण्डितस्य **'मोक्षविषये'** संशयः, अर्थात् **'मोक्षोऽस्ति किं वा नेति ?'**।

इत्थं ते संशयवन्तेकादशाऽपि द्विजास्तत्रायाताः सन्ति। संशयवन्तस्ते द्विजाः सर्वज्ञत्वाभिमानप्रौढाः आसन्। तेषु एकैकमपि सति कोऽन्यः सर्वज्ञः एतादृशेन मिथ्याभिमानेन गर्वितः आसीत्। सर्वज्ञत्वाभिमानक्षतिभयात् परस्परमपि न पृच्छन्तीति। एवमेते सर्वेऽपि निजछात्रपरिवारैः सहिताः सन्ति।

क्रमशः प्रत्येकपरिवारमानप्रदर्शनार्थमुच्यते––१. श्री-इन्द्रभूतिद्विजस्य निजछात्रपरिवारः (५००) पञ्चशतमेव। २. श्रीअग्निभूतिद्विजस्य निजछात्रपरिवारः (५००) पञ्च-शतमेव । ३. श्रीवायुभूतिद्विजस्य निजछात्रपरिवारः (५००) पञ्चशतमेव । ४. श्रीव्यक्तद्विजस्य निजछात्र-परिवारः (५००) पञ्चशतमेव । ५. श्रीसुधर्माद्विजस्य निजछात्रपरिवारः (५००) पञ्चशतमेव । ६. श्रीमण्डित-द्विजस्य निजछात्रपरिवारः (३५०) सार्धत्रिशत्शतमेव । ७. श्रीमौर्यपुत्रद्विजस्य निजछात्रपरिवारः (३५०) सार्ध-त्रिशत्शतमेव । ८. श्रीअकम्पितद्विजस्य निजछात्रपरिवारः (३००) त्रिशतमेव । ९. श्रीअचलभ्रातानामकद्विजस्य निजछात्रपरिवारः (३००) त्रिशतमेव । १०. श्रीमेतार्य-द्विजस्य निजछात्रपरिवारः (३००) त्रिशतमेव । ११. श्रीप्रभासद्विजस्य निजछात्रपरिवारः (३००) त्रिशतमेव । एवं एते तत्परिवारभूताश्च चतुश्चत्वारिंशच्छतानि द्विजाः आसन् । अन्येऽपि नानागोत्रोत्पन्नाः अनेकद्विजाः सन्ति । यथा––(१) **उपाध्याय**–'ईश्वर-शङ्कर-शिवजी' नामानि इति (२) **जानि**–'गङ्गाधर-भूधर-महीधर-लक्ष्मीधर' नामानि इति । (३) **पिण्ड्या**–'गोविन्द-नारायण-पुरुषोत्तम-मुकुन्द-विष्णु' नामानि इति । (४) **दुवे**–'उमापति-गणपति-विद्यापति-श्रीपति-जयदेव' नामानि इति । (५) **व्यास**–

'गङ्गापति - गौरीपति - महादेव - मूलदेव - शिवदेव-सुखदेव' नामानि इति । (६) **त्रिवाडी**—'श्रीकण्ठ-नीलकण्ठ-हरिहर' नामानि इति । (७) **रामजी**—'राम-रामाचार्य-बालकृष्ण-यदुराम' नामानि इति । (८) **राउल**—'कमलाकर-त्रिकम-नरसिंह-सोमेश्वर-हरिशङ्कर' नामानि इति । (९) **जोसी**—'उदिराम - गोविन्दराम - देवराम - रघुराम-शिवराम-पूनो' नामानि इति ।

इत्यादयः सर्वेऽपि द्विजाः यज्ञं कारयतः सोमिलविप्रस्य गृहे मिलिताः सन्ति । ते सर्वेऽपि सर्वज्ञस्य भगवतो नमस्यार्थं नभात् आगच्छतः सुराऽसुरान् देवान् विलोक्य निजहृदये चिन्तयन्ति—"अहो ! **यज्ञस्य महिमा ! अति-महत्त्वं, यदेते देवाः साक्षात्समागताः सन्ति ।**" ते सर्वेऽपि देवाः यज्ञस्य मण्डपं यज्ञस्थलं विहाय तथा सर्वज्ञविभु-पार्श्वं गच्छतो समवसरणभुवि निपतितवन्तः । तांश्च तथा दृष्ट्वा लोकोऽपि तत्रैव जगाम, इति विज्ञाय द्विजा अति-विषेदुः ।

(१) अथ प्रथमो गणधरः श्रीइन्द्रभूतिः
'जीवसंशयः'

ततो अमी सर्वज्ञं वन्दितुं व्रजन्तीति श्रुत्वा मुख्यः श्रीइन्द्रभूतिद्विजः सामर्षध्मातः आकर्णितसर्वज्ञाशंसां सर्वज्ञविभुं श्रीमहावीरं प्रति प्रस्थितश्च ।

"अहो ! सति मयि सर्वज्ञे अपरोऽयं कः खलु सर्वज्ञत्वं स्वं ख्यापयति, दुःश्रवमेतत् कर्णकटु कथं नाम श्रूयते ? ।" किञ्च–"कदाचित् केनाऽपि मूर्खेण वा पिशुनेन वञ्च्यते वा आश्चर्यम् ? मूर्खतया युक्तायुक्तविवेकविकलत्वात् सुरास्तु कथमनेन वञ्चिताः विस्मयं नीताः । अथवा यादृशः एषः विद्वान् ज्ञानी तादृशाः विबुधा-देवाः । अनुरूपः संयोगस्तस्य ज्ञानिनः एतेषां मूर्खाणां पिशुनानां देवानाम् । यदेवं यज्ञमण्डपं-यज्ञस्थलं तथा मां सर्वज्ञं विहाय तत् समीपं प्रयान्ति ।" यथा तीर्थाम्बुमिव वायसाः, चन्दनमिव मक्षिकाः, सद्वृक्षान् गजा इव, क्षीरान्नं शूकरा इव, सूर्य-प्रकाशवद् घूकाश्च; त्यक्त्वा तद्वद् यज्ञं प्रयान्ति ।

नाहमेतस्य सर्वज्ञाभिमानरूपमाटोपं सहे। यथा—आकाशे द्वौऽर्कौ, गुहायां द्वौ केसरिसिंहौ, प्रत्याकारे च द्वौ खड्गौ स्थातुं न शक्यते तथैव विश्वे द्वयोः सर्वज्ञयोः सम्भावनाऽपि असम्भवं खलु। 'किं सर्वज्ञावहं स च ?' नास्ति, एकोऽहं सर्वज्ञः, न अन्य एव।

ततः सर्वज्ञविभुं श्रीमहावीरं वन्दित्वा प्रतिनिवर्तमानाः जनाः आगच्छन्ति, तान् जनान् सोपहासं इन्द्रभूतिः पृच्छति— "भो ! भो ! जनाः ! किं दर्शितः स सर्वज्ञः ? कीदृग् रूपः ? किं स्वरूपः ?" इति। तदा सर्वज्ञप्रभोः अनुपमं महिमां वर्णयन्तः जनाः कथयन्ति—

(उपजाति-छन्दः)

यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्,
तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात्।
पारेपरार्ध्यं गणितं यदि स्यात्,
गणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात्॥ १॥

एतादृशः गुणवन्तः सर्वज्ञप्रभुः श्रीमहावीरः इति जनाः प्रशंसयामासः। यदा जनैः प्रभोः प्रशंसामश्रोत् इन्द्रभूतिः द्विजः विचारविमूढो सञ्जातः। सोऽचिन्तयत्—नूनमेष महाधूर्त्तशिरोमणिस्तथा मायायाः कुलमन्दिरं वर्त्तते।

अमुना कथं निखिललोकोऽपि विभ्रमे पातितः ? । क्षण-मात्रमपि न क्षमेऽहं, तं विश्वे सर्वज्ञं कदाचन। मया बलवन्तः दिग्गजाः उत्खाटिताः कार्पासमिव, तर्हि अस्या-किञ्चनस्य का वार्त्ता ? किं तिलापिष्टावशेषः कोऽपि तिलोऽवशिष्टः स्यात् । निजगृहे शूरवीरः कोऽसौ, सर्वज्ञो-मत्पुरो भवेत् ? । मद् भयेन गौडदेशोद्भवाः साक्षराः दूरदेशं गताः, गौर्जरदेशोद्भवाः विबुधाः जर्जरास्त्रासमीयुः, मालवदेशोद्भवाः पण्डिताः मृताः, तिलंगदेशोद्भवाः बुधा-स्तिलाङ्गाः, लाटदेशोद्भवाः विद्वांसः प्रणष्टाः, द्राविड-देशोद्भवाश्च विबुधाश्च व्रीडयार्ताः । अहो ! वादिलिप्सा-ऽऽतुरे मय्यमुष्मिन्, विश्वे सर्वोत्कटं वादिदुर्भिक्षमेतत् । अधुना तस्य ममाऽग्रे वादी कोऽसौ सर्वज्ञमानमुद्वहति ? तत्र तत्कालं गन्तुमहमतिउत्सुकमिति ।

तदा तस्यानुजोऽग्निभूतिः कथयति—"तत्र वादिकृते भवतां किं प्रयासेन ? अलं श्रमेण भवता । अस्य कृते तु अहमेव सक्षमः । किं कमलमुज्झरतुं ऐरावतगजस्य प्रयोगम् ?" किन्तु इन्द्रभूतिराह—"अस्याकिञ्चनस्य कृते तु मम कोऽपि छात्रोऽपि पर्याप्तः, तदपि प्रवादिनाम श्रुत्वा स्थातुमहं न शक्नोमि । अहमेव गमिष्यामि । अस्मिन्नजिते सति सर्वं विश्वजयोद्भूतमपि सुयशो विनश्येत् । शरीरस्थं

शल्यमल्पमपि प्राणान् वियोजयति । एकस्मिन्निष्टके कृष्टे निखिलोऽपि दुर्गः पात्यते ।" इत्यादि स्वहृदये विचिन्त्य, विजयार्थं विरचितद्वादशतिलकः स्वर्णयज्ञोपवीतसमलङ्कृतः पीतवस्त्राडम्बरः विविधविरुदवृन्दमुखरितदिक्चक्रैः पञ्च-शतछात्रैः परिवृतः श्रीइन्द्रभूतिः पण्डितः सर्वज्ञं श्रीवीरसमीपं गच्छंश्चिन्तयामास–

"अहो ! **अनेन** धृष्टेन किमेतत् कृतं ? यद् सर्वज्ञा-टोपेन प्रकोपितोऽहम् । भवतु, किमेतेन ?, अधुना शीघ्रं गत्वा निरुत्तरीकरोम्यहम् । मम भाग्यवशाद् वाद्ययं समुपस्थितः ।" प्राप्तो सर्वज्ञश्रीवीरसमीपम् । दिव्यसमव-सरणे प्रस्थितं प्रभुमवेक्ष्य समवसरणस्य सोपानसंस्थितो दध्यौ । "किं ब्रह्मा ?, किं विष्णुः ?, सदाशिवः शङ्करः किं ?, चन्द्रः किं ?, सूर्यः किं ?, मेरुः किं ?, वा । प्रोक्तं चैकोऽपि न घटते । ज्ञातं मया सकलदोष-रहितः निखिलगुणसमलङ्कृतः आकोर्णोऽन्तिमस्तीर्थकृत् **श्रीमहावीरः** ।

एतद् विषये श्रीकल्पसूत्रस्योपरि विद्वान् वाचकश्री-विनयविजयगणिवर्यो - विरचितः सुबोधिकाटीकायां प्रोक्तम्–

(शार्दूलविक्रीडित-वृत्तम्)

चन्द्रः किं ? स न यत् कलङ्ककलितः सूर्योऽपि नो तीव्ररुक्,
मेरुः किं ? न स यन्नितान्तकठिनो विष्णुः ? न यत् सोऽसितः।
ब्रह्मा किं ? न जरातुरः स च जराभीरुर्न यत्सोऽतनु,-
र्ज्ञातं दोषविवर्जिताऽखिलगुणाऽऽकीर्णोऽन्तिमस्तीर्थकृत् ।१५।

स्वर्णसिंहासनासीनं सुराऽसुरेन्द्रादिसेवितं चतुस्त्रिंशदतिशयसमलङ्कृतं विश्वपूज्यं भगवन्तं सर्वज्ञं श्रीमहावीरं दृष्ट्वा श्रीइन्द्रभूतिः द्विजः स्वचेतसि चिन्तयामास–

अस्याग्रेऽहं कथं वक्ष्ये ?, पार्श्वे यास्यामि वा कथम् ? ।
संकटे पतितोऽस्मीति, शिवो रक्षतु मे यशः ॥

कथंचिदपि मम सद्भाग्येन भवेदत्र मे जयस्तदा पण्डितमूर्द्धन्योऽहं भवामि जगत्त्रये। इत्यादि चिन्तयन्नेव श्रीइन्द्रभूतिः द्विजः। अत्र भगवता श्रीमहावीरजिनेश्वरेण स्वसुधामधुरयागिरा नाम-गोत्रोक्तपूर्वकमाभाषितः।

हे गौतमेन्द्रभूते ! त्वं, सुखेनागतवानसि ।
इत्युक्तेऽचिन्तयद् वेत्ति, नामापि किमसौ मम ॥

इत्थं प्रभुणा नाम-गोत्राणां संलप्तस्य श्रीइन्द्रभूतेः पण्डितस्य चिन्ता अभवत्। "अहो ! आश्चर्यम्, अयं

मम नामाऽपि विजानाति च गोत्रमपि जानाति । अथवाऽहं तु सर्वत्रैव विख्यातोऽस्मि, को वा नाम न वेत्ति माम् ? नैतदाश्चर्यम् ।" मनसि श्रीइन्द्रभूतिना विमर्शितं, यदि मे हृद्गतं गुप्तसन्देहं (संशयं) प्रकाशयति, तदा जानाम्यहं स एव सर्वज्ञः, अन्यथा तु न किंचन । तत्कालं प्रभुणा प्रोक्तम्—

चिन्तयन्तमिति प्रोचे, प्रभुः को जीवसंशयः ? ।
विभावयसि नो वेद-पदार्थं शृणु तान्यथ ।।

"हे गौतम ! किं मन्यसे '**को जीवसंशयः ?' अस्ति जीवो वा नास्ति ?"** नन्वयमनुचित एव तव संशयः, यतोऽयं संशयस्ते विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनः । तेषां वेद-वाक्यानामर्थं त्वं समीचीनं न जानासि । इति भाषमाणः सर्वज्ञो विभुः श्रीमहावीरः समुद्रं मथ्यमानरिव, गङ्गापूररिव, आदिब्रह्मध्वनिमिव वेदध्वनिं उच्चार्यमानः वेदानामर्थः प्रकाशयामास ।

'हे गौतम ! त्वं वेदानामर्थं यथा न जानासि तथा अहं वक्ष्यामि । तेषामयमर्थो—वक्ष्यमाणस्वरूपः अन्ये तु किं शब्दं परिप्रश्नार्थे व्याचक्षते तच्च न युज्यते । भगवतः सकलसंशयातीत् । तव संशयः विरुद्धपदश्रुतिनिबन्धनः

इति । तान्यमूनि **वेदपदानि—"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्यसंज्ञास्ति"** इति । तथा **"स वै अयमात्मा ज्ञानमयः"** इत्यादीनि च वेदपदानां अयमर्थो तव चेतसि विपरिवर्तते ।

विज्ञानमेव—चैतन्यमेव घनो नीलादिरूपत्वात् विज्ञान-घनः स एव एतेभ्यः अध्यक्षतः परिच्छिद्यमानस्वरूपेभ्यः पृथिव्यादिलक्षणेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय-उत्पद्य-पुनस्तान्येवानु विनश्यति-तान्येवानि भूतानि अनुसृत्य विनश्यति । तत्रै-वाव्यक्तरूपतया संलीनं भवतीति भावः । न प्रेत्यसंज्ञास्ति । अर्थात्—गमनागमनादिचेष्टावान् आत्मा एव एतेभ्यो भूतेभ्यः—पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेभ्यः समुत्थाय-प्रकटीभूय मद्यांगेषु मदशक्तिरिव, ततस्तानि-भूतान्येव अनुविनश्यति-तत्रैव विलयं याति । यथा जले बुद्बुद इव, ततो भूतातिरिक्तस्य आत्मनोऽभावात् न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति-मृतस्य वा मृत्वा पुनर्जन्म नास्ति अर्थात् पुनर्जन्माऽसम्भवमिति ।

परमयमयुक्तोऽर्थः । तव चेतसि नास्ति सुष्ठुः अर्थः । न परलोकः न तत्संज्ञाऽस्ति, ततः कुतो जीवः ? युक्त्युपपन्नश्चायमर्थ इति ते मतिः । यतो नाऽसौ प्रत्यक्षेण परिगृह्यते अतीन्द्रियत्वात् । नाप्यनुमानेन, यतः तल्लिङ्ग-लिङ्गिसम्बन्धपूर्वकम् । न चाऽत्र लिङ्गस्य लिङ्गिना सह

सम्बन्धः प्रत्यक्षगम्यः, लिङ्गिनोऽतीन्द्रियत्वात् । नाप्यनुमानगम्योऽनवस्थाप्रसक्तेः तदपि हि लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणपूर्वकम् । नाप्यागमगम्यः परस्परविरुद्धार्थतया तेषामागमानां प्रमाणत्वाऽभावात् ।

केचिदाहु—एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रिय-गोचरीकृतः । गौतम ! **'वृकपदं पश्य'** यद्वदन्ति अबहुश्रुताः ।। अन्येऽपि **"न रूपं भिक्षवः पुद्गलाः"** पुद्गले रूपं निषेधयन्ति । **"अमूर्त्त आत्मा"** इत्यर्थः । पुनरेव मन्ये **"अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता"** अपरे च स वै अयमात्मा ज्ञानमय इत्यादि । न चैते सर्व एव प्रमाणं । परस्परविरोधेन एकार्थाभिधायीपरस्पर-विरुद्ध-वाक्य-पुरुष-व्रातवत् अतो न विद्मः । किमस्ति नास्तीत्ययं तवाभिप्रायः तत्र वेदपदानां अर्थं न जानासि, च शब्दात् युक्ति हृदयं च । शृणु तावदेतेषां सत्यार्थम्—

विज्ञानघन इति कोऽर्थः ? विज्ञानघनो-ज्ञान-दर्शनोपयोगात्मकं विशिष्टज्ञानं विज्ञानं तन्मयत्वादात्माऽपि विज्ञानघनः, आत्मनोऽसंख्यातप्रदेशाः सन्ति, प्रतिप्रदेशं अनन्तज्ञानपर्यायात्मकत्वात् स च विज्ञानघनः उपयोगात्मकरूप आत्मा, कथंचिद् पृथिव्यादिभूतेभ्यः तद् विकारेभ्यो वा घटादिभ्यः उत्पद्यन्ते, घटपदार्थादिज्ञानपरिणतो हि आत्मा (जीवः)

घटादिभ्य एव हेतुभूतेभ्यो भवति । घटादिज्ञानपरिणामस्य घटादिपदार्थसापेक्षत्वात् । एवं च एतेभ्यो-भूतेभ्यो-घटादि-वस्तुभ्यस्तत् तदुपयोगतया जीवः समुत्थाय-समुत्पद्यतान्येव अनुविशयति । तस्य कोऽर्थः ? तस्मिन् घटादौ वस्तुनि विनष्टे वा व्यवहिते जीवोऽपि तदुपयोगरूपतया विनश्यति, अन्योपयोगरूपतया उत्पद्यते, अथवा सामान्यरूपतया अव-तिष्ठते ।

ततश्च न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति, इत्यस्य कोऽर्थः ? –न प्राक्तनी घटाद्युपयोगस्वरूपा संज्ञा अवतिष्ठते, वर्त्तमानोपयोगेन तस्या विनाशितत्वादिति । तेभ्यः समुत्थाय कथञ्चिद् उत्पद्यतेति–पुनस्तान्येव-भूतानि अनुविनश्यति । तेषु विवक्षितेषु भूतेषु आत्माऽपि तेन विज्ञानघनात्मना उपरमतेऽन्य विज्ञानात्मना उत्पद्यते । न प्राक्तनी घटा विज्ञानसंज्ञाऽवतिष्ठते ।

अथवा एवं–"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पुनस्तान्येवानु विनश्यतीत्येतन्न, यतः प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति-परलोक-संज्ञाऽस्ति । कथं ज्ञानस्य स्वसंविदत्वे आत्मनः प्रत्यक्षत्वं ? ज्ञानस्यात्मगुणत्वाभावात्, तदयुक्तं, भूतगुणत्वे सति पृथिव्याः काठिन्यस्यैव सर्वत्र सर्वदा चोपलम्भप्रसङ्गात्, न च सर्वत्र सर्वदा चोपलभ्यते चैतन्ये, लोष्टादौ मृतावस्थायां चानुपलम्भात्, अथ तत्राऽपि चैतन्यमस्ति केवलं शक्तिरूपेण

ततो नोपलभ्यते तदसम्यक् । इदं चैतन्यं प्रत्येकं भूतानां धर्मः समुदायस्य वा ? न तावत् प्रत्येकमनुपलम्भत्वात्, नहि प्रति परमाणु संवेदनमुपलभ्यते, अपि च प्रति परमाणु संवेदनं भवेत् तर्हि पुरुषसहस्रचैतन्यवृन्दमिव परस्परं भिन्नस्वभावमिति नैकरूप भवेत् ।

तथा 'द, द, द,' कोऽर्थः ? –दमो, दानं, दया इति दकारत्रयं यो वेत्ति स जीवः । किञ्च–**'विद्यमानभोक्तृकं इदं शरीरं, भोग्यत्वात्, ओदनादिवत्'** इत्याद्यनुमानेनाऽपि । तथा–

क्षीरे घृतं तिले तैलं, काष्ठेऽग्निः सौरभं सुमे ।
चन्द्रकान्ते सुधा यद्वद्, तथाऽऽत्माऽङ्गतः पृथक् ॥ १ ॥

"स वै अयं आत्मा ज्ञानमयः" ।

"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्यं ज्योतिर्मयो हि शुद्धोऽयं पश्यन्ति धीरा यतयः संयतात्मानः ?"

"दमो दानं दया इति दकारत्रयं यो वेत्ति स जीवः" ।

ते मोहात् अविरुद्धोऽपि अर्थः विरुद्धोऽवभासते । यथा–तिमिराभयात् शङ्खोऽपि विरुद्धवर्णयुक्तोऽवभासते । तव चेतसि जीवः किमस्ति नास्ति वा इति संशयः । अतः

वेदवाक्यानां परस्पर-समन्वय-बुद्धया आत्मनः अस्तित्वं आगमप्रमाणेन सिद्धयते। तथा प्रत्यक्षाऽनुमानोपमानार्थापत्तिसम्भवादिभिः आत्मनः अस्तित्वं सिद्धयते।

प्रत्यक्षप्रमाण--एष प्रत्यक्षप्रमाणेन ग्रहीतुं न शक्यते? इन्द्रियग्राह्यत्वाऽभावात् नास्ति खपुष्पवत्। अन्यच्च यदि यस्योपादानं तत् तस्मादभेदेन व्यवस्थितं, तद् विकारे विकारित्वं तदविकारे च विकारित्वमिति नियमादर्शनात्। यथा—मृदो घटः मातापितृचैतन्यं च सुत चैतन्यस्योपादानं व्यवतिष्ठते। तन्न भूतधर्मो भूतकार्यं वा चैतन्यं किंत्वात्मनो गुण इति। तद् गुणस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् प्रत्यक्षसिद्धात्मा अनुमानसिद्धश्च तच्चानुमानमिदं रूपादिन्द्रियाणि विद्यमान-प्रयोजकानि कुम्भकरणत्वे सति ग्राह्य-ग्राहकरूपत्वात् अनुमानप्रमाणेनाऽपि आत्मा सिद्धयते।

महानसे धूमाऽग्न्योरपि सम्बन्धो ग्रहीतः। पश्चात्—अनुमानेन स्मरणतः धूमोऽग्निं प्रतिपादयति। गो-गवयादिवत् उपमानेनाऽपि सिद्धम्। दिवसे भक्षयति देवदत्तो पुष्टः रात्रौऽभुञ्जानोऽपि पुष्टत्वे किमपि नैव बाधयति। अर्थापत्त्या सिद्धयते इति। परस्परविरोधिन्यागमानामपि मतं यथा लोकायतनाः भूतातिरिक्तं जीवं न मन्यते।

वेदवाक्याशयोऽपि विज्ञानघन एवेति। तथा मूलजा-

जलवायुतः एष सम्भाव्यते। शून्यवादिनः बौद्धाः शून्यतामेव मन्वानाः क्षणिकत्वात् सतोऽप्यन्ते जीवं न मन्यते। वेदवाक्यतः जीवस्यास्तित्वं सम्भवेत्। यथा– **"जुहुयाद् अग्निहोत्रं स्वर्गस्य कामुकः"।** प्रियाऽप्रिये न स्पृशतो अशरीरं वसन्तं वा, प्रियाऽप्रियपरित्यागः सशरीरस्य नास्ति। पुरुषः अकर्त्ता विगुणो भोक्ता चिद्रूपः स्मृतः, एवं आगमाः विरुद्धार्थवादनिषिद्धाः।

'स भोक्तृकं इदं शरीरं भोग्यत्वात् स्थालिस्थितौदनवत्', भोग्यता च शरीरस्य जीवेन तथानिवसता भुज्यमानत्वात्, द्वयोरपि च प्रयोगयोः साध्यसाधनप्रतिबन्धः, प्रतिबन्ध-सिद्धिदृष्टान्ते प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धेति। नोक्त लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहरूपदोषावकाशः। आगमगम्योऽप्येष जीवः, तथा चाऽऽगमः–

अणिंदिय गुणं जीवं दुन्नेयं मंस चक्खुणा।
सिद्धा पस्संति सवन्नू नाण सिद्धा य साहुणो॥

अत्र ज्ञानसिद्धाः भवस्थकेवलिनः, शेषं सुगमं न चाऽऽगमानां परस्परविरुद्धार्थतया सर्वेषामप्यप्रामाण्यमभ्युपेयम्। सर्वज्ञमूलस्यावश्यं प्रमाणत्वेनाभ्युपगमत्वाद्, अन्यथा सम्यक्प्रमाणाऽप्रमाण विभागापरिणतेः प्रेक्षावत्ताक्षिति प्रसङ्गात्।

ततः प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणसिद्धत्वाद् वेदप्रतिष्ठिततत्त्वाच्च सौम्य ! अस्ति जीव इति प्रतिपत्तव्यम्, इह वेदपदोन्यासस्तेन वेदानां प्रमाणत्वेनाङ्गीकृतत्वाच्च । आगमे तु–

यः कर्त्ता कर्मभोक्तानां, भोक्ता कर्मफलस्य च ।
संसर्त्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नाऽन्यलक्षणः ।।

एवं भगवता श्रीवर्द्धमानस्वामिना जरामरणाभ्यामुक्तलक्षणाभ्यां विप्रमुक्तः निराकृते संशये स इन्द्रभूतिः पञ्चशतछात्रपरिवारः समेतः प्रव्रजितः । तत्क्षणाच्च **"उपन्नेइ वा (२) विगमेइ वा (२) धुवेइ वा (३)"** इति **सर्वज्ञविभुवदनात् त्रिपदीं प्राप्य द्वादशाङ्गीं विरचितवान् ।**

।। इति श्रीइन्द्रभूतिः नाम प्रथमो गणधरः ।।

(२) अथ द्वितीयो गणधरः श्रीअग्निभूतिः
'कर्मसंशयः'

तं मूर्धन्यपण्डितप्रवरं श्रीइन्द्रभूतिं निज-पञ्चशत-विद्यार्थीपरिवारसहितं प्रव्रजितं श्रुत्वा, द्वितीयश्रीअग्निभूति-पण्डितोऽपि निज चेतसि चिन्तयामास। 'अहो ! कदाचिद् जातु द्रवेद् अद्रिः, हिमानी प्रज्वलेदपि, अग्निः शीतः, वायुः स्थिरः सम्भवेन्न तु हारयेद् मम ज्येष्ठबन्धुः श्रीइन्द्रभूतिः।' अपृच्छ जनान् अश्रद्धद् भृशम्। ततश्च निजचेतसि निश्चये जाते, अधुनैव तत्र गत्वा तं महाधूर्त्तं वादिनं जित्वा च स्वसहोदरं ज्येष्ठबन्धुं परिवारयुक्तं वालयामीति।

सोऽप्येवं श्रीअग्निभूतिः स्वपञ्चशतछात्रपरिवारसमेतः शीघ्रं तत्र प्रभुसमीपं समागतः। प्रभुणाऽभाषितस्तथा। तस्य चित्तस्थं संदेहं (संशयं) स्फुटीकृत्य प्रभुः अवदत्–

हे गौतमाग्निभूते ! कः, संदेहस्तव कर्मणः ?।
कथं वा वेदतत्त्वार्थं, विभावयसि न स्फुटम् ।।

'**हे गौतमाग्निभूते ! कः संदेहस्तव कर्मणः ?**' त्वमेतत् मन्यसे कर्म ज्ञानावरणीयादि किमस्ति नास्ति वा ? नन्वयमनुचितस्तव सन्देहः, यतोऽयं सन्देहस्तव विरुद्धपद-श्रुतिनिबन्धनस्तेषां सम्यक् अर्थं त्वं न जानासि। त्वं यथा न जानासि तथाऽहं वक्ष्यामि तानि च वेदपदानि– "**पुरुष एवेदं ग्नि सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्,**" उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति यदेजति यन्नेजति यद्दूरे यदु अन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्यास्य बाह्यतः। इत्यादि पुण्यः पुण्येनेत्यादि तेषां अयं अर्थः–तव चेतसि, पुरुषः आत्मा एवकारोऽवधारणे स च पुरुषातिरिक्तस्य कर्मेश्वरादिनिषेधार्थः, इत्यनेन यद् सुर-नर-तिर्यक्-पृथ्वीप्रमुखं वस्तु दृश्यते तत् सर्वं आत्मैव।

इदं सर्वप्रत्यक्षं चेतनाऽचेतनस्वरूपं 'ग्नि' इति वाक्यालङ्कारे, यद्भूतं अतीतकाले, यच्च भाव्यं अनागतकाले उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति यदेजति यन्नेजति यद् दूरे यदु अन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्यास्य। मुक्ति-संसारावपि स एव पुरुष इत्यर्थः। अमृतस्य अमरणस्य ईशानः प्रभुः अतिशयेन वृद्धिं उपैति, एजति चलति पश्वादि यन्नेजति न चलति पर्वतादि आर्षत्वात् यत्र ऐकारो न भवति, दूरे समीपे तत्सर्वं पुरुष एव, तथा चेतनाऽचेतन

स्य सर्वस्य सोऽपि पुरुषः एव इति। ततः कर्मनिषेधः स्पष्ट एव।

किञ्च—अमूर्त्तस्य आत्मनो मूर्त्तेन कर्मणा अनुग्रह-उपघातश्च कथं भवति एव? यथा—आकाशस्य चन्दनादिना मण्डनं तथैव खड्गादिना खण्डनं न सम्भवति, तस्मात् कर्म नास्तीति तव चेतसि वर्त्तते। किन्तु, नाऽयमर्थः समर्थः हे अग्निभूते! अयुक्तोऽयमर्थः, शृणु तावदेतेषामर्थम्—इमानि पदानि पुरुषस्तुतिपराणि सन्ति। यथा—वेदपदानि त्रिविधानि वर्त्तन्ते। तस्मिन् (१) कानिचिद् वेदपदानि विधिप्रतिपादकानि सन्ति। यथा **"स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयाद्"** इत्यादीनि। (२) कानिचिद् वेदपदानि अनुवादपराणि सन्ति। यथा **"द्वादशमासाः संवत्सरः"** तथा "अग्निरुष्णः" इत्यादीनि। (३) कानिचिद् वेदपदानि स्तुतिपराणि सन्ति। यथा **"इदं पुरुष एव"** इत्यादीनि। ततोऽनेन पदेन पुरुषस्य महिमा प्रतीयते, न तु कर्मादीनामभावः। यथा कथ्यते—

जले विष्णुः स्थले विष्णुः,
विष्णुः पर्वतमस्तके।
सर्वभूतमयो विष्णु-
स्तस्माद् विष्णुमयं जगत्॥ १॥

इत्यनेन विष्णोर्महिमा प्रतीयते। अर्थात्–अत्र विष्णोः महिमा, विष्णोः व्यापकत्वं सर्वत्र प्रतीयते; नत्वन्यवस्तूनामभावः। तद्वत् अत्राऽपि "पुरुष एवेदं 'ग्नि' सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्" तत् सर्वं आत्मैव" इत्यनेन वेदपदेन आत्मनो महिमा वर्णितः, किन्तु आत्मातिरिक्तकर्म इत्यादिकं नास्तीति न ज्ञायते। अर्थात्–आत्मातिरिक्त कर्मेत्यादिकमप्यस्ति।

किञ्च–अमूर्त्तस्यात्मनो मूर्त्तेन कर्मणा कथमनुग्रहस्तथा कथमुपघातः? तद् द्वयमपि अयुक्तम्। यत् अमूर्त्तस्याऽपि ज्ञानस्य मदिरादिना उपघातो दृष्ट एव तथा ब्राह्मी आदि औषधेन अनुग्रहोऽपि दृष्ट एव। तस्मात् अमूर्त्तस्यापि मूर्त्तेन अनुग्रहोऽपघातौ द्वयमपि सम्भवतीति मन्यते। अन्यच्च समानेऽपि सेवाद्यारम्भे समानेऽपि च स्वामिचित्त। परिज्ञानादिरूपे परस्परं-मनुष्याणां फलभेदः स हेत्वन्तरं विना न युक्तिमियत्तिम्।

ततो यदेव तत्र किञ्चनाऽपि हेत्वन्तरं तत् कर्मेति प्रतिपत्तिः। यथा–"पुण्यः पुण्येन कर्मणा, पापः पापेन कर्मणा" इति श्रुतिवचनप्रामाण्यात् कर्मास्तीति ध्रुवम्। तच्च कर्म-पुद्गलस्वरूपं नाऽमूर्त्तमिति कथम्? उच्यते–

अमूर्त्तत्वे सति ततः सकाशादात्मनां अनुग्रहोपघातौ सम्भवात्, आकाशादिवत् ।

किञ्च—कर्म विना एकः सुखी, अन्यो दुःखी; एकः प्रभुः अन्य किङ्करः; एकः नृपः अन्यः रङ्कः, एकः श्रीमान् अन्यः दरिद्रः इत्यादि प्रत्यक्षं विश्ववैचित्र्यं कथं नाम सम्भवति ? एतत् सर्वमपि कर्म विना न सम्भवति। तस्मात् कर्म एव कारणं ज्ञेयम् । यत् यत् क्रिया शुभं अशुभं वा क्रियते तत् तत् फलमपि शुभं अशुभं वा प्राप्यते । एतद् फलं शुभाऽशुभं कर्म एवाऽस्ति ।

इत्यादि प्रभुश्रीवीरवचनैः छिन्नसंदेहः श्रीअग्निभूतिः निजपञ्चशतछात्रपरिवारसमेतः प्रव्रजितः । तत्क्षणाच्च "उपन्नेइ वा (१) विगमेइ वा (२) धुवेइ वा (३)" इतिं प्रभुश्रीवीरवदनात् त्रिपदीं प्राप्य द्वादशाङ्गीं विरचितवान् ।

।। इति श्रीअग्निभूतिः नाम द्वितीयो गणधरः ।।

(३) अथ तृतीयो गणधरः श्रीवायुभूतिः

'तज्जीवसंशयः'

तौ ज्येष्ठभ्रातरौ श्रीइन्द्रभूति-अग्निभूतिद्वावपि मूर्धन्य-पण्डितौ प्रव्रजितौ तथा शिष्यजातौ श्रुत्वा तृतीयः श्रीवायुभूतिरपि निजपञ्चशतछात्रपरिवारसमेतः प्रभुसकाशमागच्छति । सातिशयनिजबन्धुद्वयनिष्क्रमणाकर्णनादपगताभिमानो भगवति सञ्जातसर्वज्ञप्रत्ययः सन्नेवमवधारयत्–व्रजामि ण इति वाक्यालङ्कारे तथा भगवन्तं वन्दित्वा ममाऽपि पूज्य एव सस्तद् गच्छामि च स्वसंशयमपि पृच्छामि इति निश्चित्य सोऽप्यगच्छत्, एवं सर्वेऽपि आगताश्च। सर्वज्ञेन श्रीमहावीरभगवताऽपि प्रतिबोधिताः । तत् क्रमश्चायम्–

तज्जीवलच्छरीरे, सन्दिग्धं वायुभूतिनामानम् ।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि ? ।।

हे गौतमगोत्रवान् वायुभूते ! तव चेतसि संशयोऽयमस्ति । यदुत–**'स एव जीवस्तदेव च शरीरम्'** इति ।

नापि च पृच्छसि किञ्चित् विदिताशेषतत्त्व मत्लक्षणं क्षोभात् ।

अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनः, तेषां च वेदपदार्थानां अर्थं न जानासि, तेन संशयं कुरुषे । तेषा च तव संशयनिबन्धनानां वेदपदानामयमर्थो-वक्ष्यमाण इति गाथार्थः । तानि चामूनि परस्परविरुद्धानि वेद-पदानि—**'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पुनस्तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति'** इत्यादि वेदपदैः भूतेभ्यो जीवः पृथग् नास्ति इति प्रतीयते । तथा **'सत्येन लभ्य-स्तपसा ह्येष आत्मा ब्रह्मचर्येण नित्यं । ज्योतिर्मयो हि शुद्धो यं पश्यन्ति धीराः यतयः संयतात्मानः'** इत्यादि ।

अस्यार्थः—एषः ज्योतिर्मयः शुद्ध आत्मा सत्येन तपसा ब्रह्मचर्येण लभ्यः ज्ञेय इत्यर्थः । एभिस्तु वेदपदैर्भूतेभ्यः पृथक् आत्मा प्रतीयते । एतेषां चायमर्थस्तव बुद्धौ प्रति-भासते । न देहात्मनोर्भेदसज्ञास्ति, विज्ञानघनेत्यादि वेद-पदस्य व्याख्या पूर्ववत् ज्ञेया । न वरं न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति, भूतसमुदयमात्रधर्मत्वात् चेतनस्य, तेन चाऽमूनि किल शरीरातिरिक्तात्मनोच्छेदपराणि वर्त्तन्ते । सत्येन लभ्य-स्तपसा 'एषः' इत्यादीनि तु देहातिरिक्तात्मप्रतिपादकानि ततः संशयः, युक्ता च भूतसमुदायमात्रधर्मता चेतनायाः ।

सत्येन तपसा ब्रह्मचर्येण च स्फुट नित्यं-नियमेन ज्योतिर्मयो शुद्धो भवति। यं तथा भूतात्मने धीराः ध्यानैकनिषण्णाः पश्यन्ति। तथाहि–

योऽर्थोऽनुभूतः स स्मर्यते न शेषस्तथा स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण प्रतीतेः, विपक्षे चाऽतिप्रसङ्गो बाधकं प्रमाणम्। अननुभूते विषये यदि स्मरणं भवेत्, ततोऽननुभूतत्वाविशेषात् खरविषाणेः अपि स्मरणप्रसक्तिरित्यतिप्रसङ्गः। विवक्षितेषु इन्द्रियेषु सत्सूपलभ्यो योऽर्थः। स भवान्तरे तद् विगमेऽपि जातिस्मरणज्ञाने स्मर्यते। यस्मात् '**विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य**' इत्यादि वेदपदैः अस्मद् उक्तार्थप्रकारेण आत्मसत्ता प्रकटितैव। "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा०" इत्यादि वेदप्रमाणाभ्युपगमात्। एवं च प्रभु-श्रीवीरवचनैः छिन्नसन्देहः तृतीयश्रीवायुभूतिरपि स्वपञ्चशतछात्रपरिवारसमेतः प्रव्रजितः। तत्क्षणाच्च "उपन्नेइ वा (१) विगमेइ वा (२) धुवेइ वा (३) इति सर्वज्ञ-श्रीमहावीरप्रभुवदनात् त्रिपदीं प्राप्य द्वादशाङ्गीं विरचितवान्।

॥ इति श्रीवायुभूतिः नाम तृतीयो गणधरः ॥

(४) अथ चतुर्थो गणधरः श्रीव्यक्तः
'पञ्चभूतसंशयः'

एवं श्रीइन्द्रभूति - अग्निभूति - वायुभूतीति नामानि त्रिबन्धून् मूर्धन्यपण्डितान् स्वपञ्चशतछात्रपरिवारसहितान् प्रव्रजितान् श्रुत्वा, श्रीव्यक्तनाम चतुर्थः पण्डितोऽपि स्वपञ्चशतछात्रपरिवारसहितः सर्वज्ञविभुश्रीमहावीरसकाशमागच्छति। भगवन्तं वन्दित्वा च पर्युपासस्थित्वा च तदन्तिकं विस्मयान्वितनयनः तस्थौ। अत्रान्तरे आभाष्य च प्रभुणा प्रोक्तम्—

पञ्चसु भूतेषु तथा, सन्दिग्धं व्यक्तसंज्ञकं विबुधम्।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि॥

किं पञ्चभूतानि सन्ति, किं वा न सन्ति? इति मन्यसे। अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनः। तानि चामूनि वेदपदानि—**'येन स्वप्नोपमं वै सकलं इत्येष ब्रह्मविधिरञ्जसा विज्ञेय'** इति। तथा **'द्यावा पृथिवी'**

इत्यादि । तथा **'पृथिवी देवता आपो देवता'** इत्यादि । तेषां वेदपदानामयमर्थः तव प्रतिभासते ।

अस्यार्थः—वै निश्चितं, सकलम्-एतत् पृथिव्यादिकं स्वप्नोपमम् असत्, अनेन वेदपदेन तावद् भूतानां अभावः प्रतीयते । अर्थात्—स्वप्नसदृशं वै निपातः । द्यावा पृथिवीत्यादीनि तु सत्ताप्रतिपादकानि, ततः संशयः । तथा एवं ते चित्तभ्रमो यथा भूताभाव एव समीचीनस्तेषां प्रमाणेनाग्रहणात् । "पृथ्वी देवता आपो देवता" इत्यादिभिस्तु भूतसत्ता प्रतीयते इति सन्देहः, किन्तु अविचारितमेतत् । यस्मात् "स्वप्नोपमं वै सकलं" इत्यादीनि पदानि अध्यात्मस्वरूपचिन्तायां स्वर्णस्त्रियादिसंयोगस्य अनित्यत्वसूचकानि, न तु भूतनिषेधपराणि । द्यावा पृथिवीत्यादीनि तु भूतसत्ताप्रतिपादकानि तवोऽपि प्रतीतानि, ततो वेदसिद्धा सिद्धा भूतानां सत्ता । यदप्युक्तम्—भूताभाव एव समीचीनस्तेषां प्रमाणेनाग्रहणादित्यादि तदप्यसम्यक् । भूतानां प्रमाणसिद्धत्वात्—द्विविधं परमाणुरूपं साधारणाऽसाधारणभेदाभ्याम् । तत्र यदसाधारणं रूपं तेन चाक्षुषविज्ञाने न ते प्रतिभासन्ते । साधारणेन तु रूपेण प्रतिभासन्त एव । परमाणूनां तथाविधदेशकालादिसामग्रीविशेषसापेक्षाणां विवक्षितजलधारणादिक्रियासमर्थः । कुतो

देशकात्स्न्र्यवृत्तिविकल्पस्य दोषावकाशः ? शेषं तु समवाय पक्षोक्तमनु. अभ्युपगमेति ।

एवं च प्रभुश्रीवीरवचनैः छिन्नसन्देहः चतुर्थः श्रीव्यक्तनामपण्डितोऽपि निजपञ्चशतछात्रपरिवारसमेतः प्रव्रजितः । तत्क्षणाच्च "उपन्नेइ वा (१) विगमेइ वा (२) धुवेइ वा (३)" इति सर्वज्ञविभुश्रीमहावीरवदनात् त्रिपदीं प्राप्य द्वादशाङ्गीं विरचितवान् ।

।। इति श्रीव्यक्तनाम चतुर्थो गणधरः ।।

(५) अथ पञ्चमो गणधरः श्रीसुधर्माभिधः
'यो यादृशः स तादृशः' संशयः

श्रीइन्द्रभूतिप्रमुखान् प्रधानपण्डितान् स्वछात्रपरिवार-सहितान् प्रव्रजितान् प्रभोर्पार्श्वे श्रुत्वा पञ्चमः श्रीसुधर्माभिधो विबुधोऽपि स्वपञ्चशतछात्रपरिवारसमेतः सर्वज्ञश्रीमहावीर-प्रभोः सकाशमागच्छति। किंभूतेनाध्यवसायेनेत्याह, स च भगवन्तं दृष्ट्वा अतीवप्रसन्नो जातः।

अत्रान्तरे प्रभुणा प्रोक्तम्—

यो यादृशः स तादृश, इति सन्दिग्धं सुधर्मनामानम्।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि ? ॥ १ ॥

किं मन्यसे यो मनुष्यादि यादृशः इह भवे स परभवेऽपि तादृशः एव ? नन्वयमनुचितः तव संशयः। यतोऽसौ विरुद्धवेदश्रुतिनिबन्धनः तानि चामूनि पदानि—'**पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते, पशवः पशुत्वम्**' तथा '**शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते**' इत्यादि च तत्र, पुरुषो मृतः

सन् पुरुषत्वं प्राप्नोति गवादयः पशुत्वमेव । अमूनि वेद-पदानि किल भवान्तरसादृश्यप्रतिपादकानि, तथा "शृगालो वै एष०" इत्यादीनि तु वैसदृश्यप्रापकानि ततः संशयः । परं नायमर्थः समर्थ । सत्यार्थस्तु–

"पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते" इत्यादीनि यानि पदानि सन्ति तानि, 'मनुष्योऽपि कश्चिन्मार्दवेत्यादिगुणो युक्तो मनुष्यायुः कर्म बद्ध्वा पुनरपि मनुष्यो भवति इत्यर्थ-कथितान्येव, न तु मनुष्यो मनुष्य एव भवति' इति निश्चायकानि ।

तथा मनुष्यः कथं पशुर्भवति ? तवाभिप्रायः कार्यं कारणानुरूपं भवति । न खलु शालिबीजाद् गोधूमाङ्कुरः सम्भवतीति युक्तिः न समीचीना, यतो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादिउत्पत्तेर्दर्शनात् कार्यवैसदृश्यमपि सम्भवत्येव । अर्थात्–ततो भवान्तरसादृश्यमेवोपपत्तिमत्, तत्र वेदप-दानामर्थः च शब्दात् युक्तिं न जानासि । तेषामयमर्थः ।

पुरुषः खल्विह जन्मनि स्वभावेन गुणयुक्तो मनुष्य-नामगोत्रकर्मणी बद्धः मृतः सन् पुरुषत्वं प्राप्नोति, न तु नियमेन । एवं पशवोऽपि पशुभावमायादिगुणयुक्ताः पशुनामगोत्रे कर्मणी बद्धाः मृताः सन्तः पशुत्वमाप्नुवन्ति,

न तु नियोगतः, जीवानां गतिविशेषस्य कर्मसापेक्षत्वात् । इह लोके किञ्चिदिह परलोके वा न सर्वथा समानमसमानं वाऽस्ति । तथा चेह भवे युवा निजैरप्यतीतानागतैः बालवृद्धपर्यायैः सर्वथा न समानोऽवस्थाभेदग्रहणात्, नाऽपि सर्वथाऽसमानः । एवं परलोकेऽपि जनः देवत्व-मापन्नः न सर्वथाऽसमानः—जीवत्वाद्यन्वयात् ।

एवं च प्रभुश्रीवीरवचनैः छिन्नसन्देहः पञ्चमः श्रीसुधर्माभिधः पण्डितोऽपि स्वपञ्चाशतच्छात्रपरिवारसहितः प्रव्रजितः । तत्क्षणाच्च "उपन्नेइ वा (१) विगमेइ वा (२) धुवेइ वा (३)" इति सर्वज्ञविभुश्रीमहावीर-वदनाद् त्रिपदीं प्राप्य द्वादशाङ्गीं विरचितवान् ।

॥ इति श्रीसुधर्माभिधः पञ्चमो गणधरः ॥

(६) अथ षष्ठो गणधरः श्रीमण्डितः
'बन्ध-मोक्ष संशयः'

तान् श्रीइन्द्रभूतिप्रमुखान् प्रधानपण्डितान् निजछात्र-परिवारसहितान् प्रव्रजितान् श्रुत्वा, षष्ठः श्रीमण्डिताभिधः पण्डितोऽपि निजसार्द्धत्रिशतछात्रपरिवारयुक्तः सर्वज्ञविभु-श्रीमहावीरसकाशमागच्छति । स भगवत् समीपं गत्वा त्रिलोकनाथं प्रणम्य प्रमुदितस्तदग्रतस्तस्थौ । आभाष्य च प्रभुणा प्रोक्तम्—

अथ बन्धमोक्षविषये, सन्दिग्धं मण्डिताभिधं विबुधम् ।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि ।।

किं मन्यसे बन्धमोक्षौ स्तो न वा ? इति । नन्वय-मनुचितः तव संशयः । तवाऽयं संशयो विरुद्धवेदपदश्रुति-समुत्थो वर्त्तते । तानि च वेदपदानि अमूनि—"**स एष विगुणो विभुर्न बद्धयते संसरति वा मुच्यते मोचयति वा, न वा एष बाह्यान्तरं वा वेद**" इत्यादीनि । "न ह वै

सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरास्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाऽप्रिये न स्पृशत" इत्यादीनि च।

एतेषां वेदपदानामयमर्थस्तव चेतसि प्रतिभासते। स एष जीवो **विगुणः**–सत्त्वादिगुणरहितो **विभुः**–सर्वव्यापको, **न बध्यते**–पुण्यपापाभ्यां न युज्यते, **न संसरति**–न भवे परिभ्रमति, **न मुच्यते**–कर्मणा बन्धाभावात्, नाप्यन्यं **मोचयति**–क्रियारहितत्त्वात् अनेन अकर्तृत्वमावेदयति वा। एष बाह्यम्–आत्मव्यतिरिक्तं महदहङ्कारादि आभ्यन्तरं वा स्वरूपमेव वेद–जानाति, तवाभिप्राय: 'बन्धो हि जीवकर्म-संयोगलक्षण:'। स आदिमान् आदिरहितो वा?

तत्र यदि प्रथमो विकल्पस्ततो विकल्पत्रय प्रसङ्ग:। किं पूर्वमात्मन: प्रसूति: पश्चात् कर्मण: ?, यदि वा पूर्वं कर्मण: पश्चादात्मन: ? अथवा किं युगपत् द्वावपि? सर्वत्राऽपि दोष:। तथाहि–न तावदात्मन: पूर्वं प्रसूति-र्निर्हेतुकत्वात्, आकाशकुसुमवत्। नाऽपि कर्मण: प्राक्-प्रसूति: कर्तुरभावात्। न चाकृतं कर्म भवति। युगपत् प्रसूति: अपि अयुक्ता, कारणाभावात्। न च अनादिमत्य-प्यात्मनि बन्धो घटामटाटयते कारणाभावाद् गगनस्येव।

तत्र वेदपदानामयमर्थ:–**स एष आत्मा**, किं विशिष्ट: ?

विगुणो—विगतच्छाद्मस्थिकगुण:, पुन: कीदृश: ? **विभु:**—केवलज्ञानवान्, लोकालोकप्रकाशक - केवलज्ञानस्वरूपेण निखिलविश्वव्यापकत्वात्, एवंविध आत्मा पुण्य-पापाभ्यां न युज्यते । तथा न बध्यते मिथ्यादर्शनादिबन्धकारणाभावात्, नेत्यनुवर्तते कर्मबीजाभावात् नापि मुच्यते मुक्तत्वात् इत्यादि । एवं एतानि वेदपदानि मुक्तात्मस्वरूपप्रतिपादकानि, शेषाणि तु सुप्रतीत्यान्येव । एवंविधात्मा पुण्य-पापाभ्यां न युज्यते । उच्यते, अमूर्त्तत्वात् तथाह्यमूर्त्तानां प्रति द्रव्यमनन्तानां केवलज्ञानदर्शनानां सम्पातोऽस्ति न च विरोध: ।

एवं च प्रभुश्रीवीरवचनै: छिन्नसन्देह: षष्ठ: श्रीमण्डित: पण्डितोऽपि स्वसार्द्धत्रिशतछात्रपरिवारसहित: प्रव्रजित: । तत्क्षणाच्च "उपन्नेइ वा (१) विगमेइ वा (२) धुवेइ वा (३)" इति सर्वज्ञविभुश्रीमहावीरवदनाद् त्रिपदीं प्राप्य द्वादशाङ्गीं विरचितवान् ।

।। इति श्रीमण्डितो नाम षष्ठो गणधर: ।।

(७) सप्तमः श्रीमौर्यपुत्रो गणधरः

'देवसंशयः'

तान् पूर्वोक्तान् श्रीइन्द्रभूत्यादीन् प्रधान-पण्डितान् निजछात्रपरिवारसहितान् प्रव्रजितान् श्रुत्वा, सप्तमः **श्रीमौर्यपुत्रोऽपि** पण्डितः निजसार्द्धत्रिशतछात्रपरिवारयुक्तः सर्वज्ञविभुश्रीवीरसकाशमागच्छति । स च प्रभुसमीपं गत्वा विश्वनाथं नमस्कृत्य प्रमुदितस्तदग्रतस्तस्थौ । आभाष्य च प्रभुणा प्रोक्तम्–

अथ देवविषयसन्देह-संयुतं मौर्यपुत्रनामानम् ।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि ।।

यतः–"**को जानाति ? मायोपमान् गीर्वाणान् इन्द्र-यमवरुणकुबेरादीन्**" इति वेदपदैर्देवनिषेधः प्रतीयते । तथा "**स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्लोकं गच्छति**" । इति वेदपदैस्तु देवसत्ता प्रतीयते इति तव सन्देहः, किन्तु अविचारितमेतत् । यत एते देवाः त्वया मया च प्रत्यक्षमेव

दृश्यन्ते । यत्तु वेदेऽपि **"मायोपवान्"** यदुक्तं तद् देवानामपि अनित्यत्वसूचकमिति ।

अन्यच्च—अपाय सोमं अमृता, अमूम अगम ज्योतिर्विदाम देवान् किं नूनम्, अस्मद् तृणवद् अरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्येत्यादीनि । को जानाति मायोपमान् गीर्वाणान् इन्द्रादीन् इत्यादीनि, च एतेषां अयमर्थस्तव चेतसि भासते । स एष यज्ञ एव करितदारण क्षमत्वात् । यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा-प्रगुणेन न्यायेन स्वर्गलोकं गच्छतीति । तथा अपाय—पीवन्तः सोमरसं अमरधर्मणो अमूम गताः ज्योतिः स्वर्गं अविहाय, देवत्वं प्राप्तास्मः । किं नूनमस्मादूर्ध्वं तृणवत् करिष्यति, कोऽसौ इति—आह अराति व्याधिः जरा अमरण धर्माणो मनुष्यस्य किं करिष्यति जरादि इति भावः । तदेवममूनि किल वेदपदानि देवसत्ताप्रतिपादकानि 'को जानाति मायोपमानि' सत्ता प्रतिषेधकानि इति तव संशयः ।

किं इत्थं मन्यसे नारकाः किल साक्लिष्टासुरपरमाधार्मिकाः यत् तया कर्मवशतया परतन्त्रत्वात्, स्वयं च दुःखसन्तत्वात् इहागन्तुमक्षमाः वयमपि तत्राऽनेन शरीरेण कर्मवशतया एव गन्तुमशक्ताः । ततः श्रुति-स्मृतिग्रन्थेषु श्रूयमानः । आगमप्रामाण्यतः श्रद्धेया भवन्तु । अन्यच्च—

'को जानाति इन्द्रादीन्०' तत्र परमार्थचिन्तायां देवा सन्ति मत्प्रत्यक्षत्वात् मनुष्यवत्, इत्यपि शास्त्रप्रमाणतः सिद्धाः । देवाऽपि स्वकृतभोगफलकर्मपर्यन्तं विनश्वराः ।

एवं च प्रभुश्रीवीरवचनैः छिन्नसन्देहः सप्तमश्रीमौर्यपुत्रः पण्डितोऽपि निजसार्द्धत्रिशतछात्रपरिवारसमेतः प्रव्रजितः । तत्क्षणाच्च "उपन्नेइ वा (१) विगमेइ वा (२) धुवेइ वा (३)" इति सर्वज्ञविभुश्रीवर्द्धमानस्वामिनो वदनाद् त्रिपदीं प्राप्य द्वादशाङ्गीं विरचितवान् ।

।। इति श्रीमौर्यपुत्रो नाम सप्तमो गणधरः ।।

(८) अथ अष्टमो गणधरः श्रीअकम्पितः

'नारकसंशयः'

तान् पूर्वोक्तान् श्रीइन्द्रभूतिप्रमुखान् सप्तान् प्रधान-पण्डितान् स्वछात्रपरिवारसहितान् प्रव्रजितान् श्रुत्वा, अष्टमः श्रीअकम्पितोऽपि पण्डितः निजत्रिशतछात्रपरिवार-सहितः सर्वज्ञविभुश्रीमहावीरसकाशमागच्छति । स च प्रभुसमीपं गत्वा दृष्ट्वा च जगन्नाथं प्रणम्य प्रमुदितस्तद-ग्रतस्तस्थौ । आभाष्य च सर्वज्ञविभुना प्रोक्तम्—

अथ नारकसन्देहान्, सन्दिग्धमकम्पितं विबुधमुख्यम् ।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि ? ।।

नरान् स्वयोग्यान् कायन्तीति नरकाः । तेषु भवाः नारकाः । ते नारकाः सन्ति वा नास्ति ? इति तव सन्देहरूपं मन्यसे । अयं च सन्देहस्तव विरुद्धपदश्रुति-समुद्भवोऽस्ति । यस्मात्—**"न ह वै प्रेत्य नरके नारकाः सन्ति"** इत्यादिपदैर्नारिकाऽभावः प्रतीयते । **"नारको वै**

एष जायते यः शूद्रान्नमश्नाति" इत्यादिपदैस्तु नारकसत्ता प्रतीयते, इति ।

त्वं इत्थं मन्यसे—देवा हि सूर्यचन्द्रादयस्तावत् प्रत्यक्षा एव, अन्येऽपि औपयाचितकादि फलदर्शनतोऽनुमानतोऽवगम्यते । वेदपदानामयमर्थः—ये खलु निरुपाधितपः संयमादिना उपचितपुण्यप्राग्भारास्ते न ह वै न प्रेत्य-परलोके जायन्ते । तेषां स्वर्ग सत्कुलप्रत्यायाति परम्परया । केषाञ्चित् तु तद् अभावेऽपि मोक्षगमनात् । ततो नामूनि नारकाभावप्रतिपादकानि वेदपदानि । ते नारकाः कर्मपारतन्त्र्यात् इह गन्तुमशक्याः । ततो न युष्मादृशां तदुपलब्धिः भवेत् । क्षायिकज्ञानसम्यगुपेतानां तु वीतरागाणां ते प्रत्यक्षा एव ।

यतो ज्ञ स्वभावात्मा ज्ञानावरणीयस्य क्षयोपशमस्तथा तस्य रूपाविर्भावविशेषो दृश्यते । ततोऽवश्यमसौ ज्ञस्वभावः ज्ञातव्यः । अन्यमपि परलोके केचिन्नारका मेर्वादिवत् शाश्वता न सन्ति, किन्तु यः कश्चित् पापमाचरति स नारको भवति, वा नारका मृत्वाऽनन्तरं नारकतया नोत्पद्यन्ते इति प्रेत्य नारकाः न सन्ति । नरकेषु सततानुबन्धयुक्तं तीव्रपरिणामम्, दुःखं तिर्यक् तृष्णामयक्षुधादि सुखं वा दुःखं चाल्पम् । सुख-दुःखे मनुजानां इन्द्रियमन-

शरीराश्रये बहुविकल्पे, सुखमेव तु देवानां अल्पं दुःखं तु मनसिजमिति ।

एवं च विभुश्रीवीरवचनैः छिन्नसन्देहोऽष्टमः श्री-अकम्पितः पण्डितोऽपि निजत्रिशतछात्रपरिवारसमेतः प्रव्रजितः । तत्क्षणाच्च "उपन्नेइ वा (१) विगमेइ वा (२) धुवेइ वा (३)" इति सर्वज्ञविभुश्रीवर्द्धमानवदनाद् त्रिपदीं प्राप्य द्वादशाङ्गीं विरचितवान् ।

।। इति श्रीअकम्पितो नाम अष्टमो गणधरः ।।

(९) नवमः श्रीअचलभ्राता गणधरः

'पुण्य-पापसंशयः'

तान् पूर्वोक्तान् श्रीइन्द्रभूतिप्रमुखान् अष्टप्रधानपण्डितान् निजछात्रपरिवारसहितान् प्रव्रजितान् श्रुत्वा, नवमः श्रीअचलभ्राताभिधः पण्डितोऽपि निजत्रिशतछात्रपरिवारसमेतः सर्वज्ञविभुश्रीवर्द्धमानसकाशमागच्छति। स च प्रभुसमीपं गत्वा दृष्ट्वा च विश्वपूज्यं प्रणम्य प्रमुदितस्तदग्रतस्तस्थौ। आभाष्य च सर्वज्ञविभुना श्रीमहावीरेण प्रोक्तम्—

अथ पुण्ये संदिग्धं, द्विजमचलभ्रातरं विबुधमुख्यम्।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि ?॥

किं पुण्य-पापे स्तः किं वा नेति मन्यसे। तव संशयोऽयमपि विरुद्धवेदश्रुतिप्रभवः। तानि चाऽमूनि वेदपदानि—पूर्वमग्निभूत्युक्तं **"पुरुष एवेदं ग्नि सर्वं"** इत्यादि पदं, तत्र प्रत्युत्तरमपि तथैव ज्ञेयम्। तथा **"पुण्यः पुण्येन कर्मणा,**

पापः पापेन कर्मणा" इत्यादि-वेदपदैः पुण्यपापयोः सिद्धिश्च ।

हे अचलभ्राता ! त्वमित्थं मन्यसे—दर्शन-विप्रतिपत्तिश्चाऽत्र, केषाञ्चिद् दर्शनं पुण्यमेवाऽस्ति न पापम् । तदेव चावाप्तप्रकर्षावस्थं स्वर्गाय क्षीयमाणं मनुष्यतिर्यग्-नरकादिभवफलाय हेतु, तद् क्षयाच्च मोक्षप्राप्तिरिति । यथातिपश्याहारग्रहणात्—उत्कृष्टं स्वास्थ्यमारोग्यं भवति च पथ्याहारवर्जनात् आरोग्यहानिः । अशेषाहारपरिक्षयाच्च शून्यभावकल्पोऽपवर्गः अन्येषां तु पापमेवेकम् । नैकान्ततः संसारिणः सुखं दुःखं वा अस्ति । देवानामपि ईर्ष्यादि-युक्तत्वात् नारकाणामपि वा पञ्चेन्द्रियत्वानुभवात् । पुण्य-पापाख्यवस्तुक्षयाच्च मोक्ष इति । अपरेषां तु स्वतन्त्रमुभयं विविक्तसुखदुःखकारणं तत्क्षयाच्च निःश्रेयसावाप्ति । तदेवं दर्शनानां परस्परविरुद्धत्वेनाप्रमाणत्वाद् । अस्मिन् विषये प्रमाणाभाव इति ।

तथा "पुण्यः पुण्येन कर्मणा, पापः पापेन कर्मणा" इत्यादिना प्रतिपादिता सत्ता । तवः संशयः, तेषामयमर्थः—दर्शनां अप्राप्यं परस्परविरुद्धत्वेन मन्यसे तदसाम्प्रतम्, एकस्य प्रमाणत्वात् । तत्र न तावत् पुण्यमेवापचीयमानं दुःखकारणं तस्य सुखहेतुत्वेन इष्टत्वात् । स्वल्पस्यापि

स्वसुखसाधकत्वात् । तथा चाणीयसो हेमपिण्डादणुरपि सौवर्णः । एवं घटो भवति न मार्तिको राजतः ।

अन्यच्च—केवलसुखानुभवोऽनुत्तरदेवानां तथा केवल-दुःखानुभवो नारकाणां श्रूयते । न च सर्वथा संमिश्रैक-रूपात् कारणादेव विविक्तः कार्यभेदो युक्तः । तथाहि—हास्यादिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यमन्यत् पापम्, सर्वं च तत् कर्मेति । तस्माद् विविक्ते पुण्य-पापे इति प्रतिपत्तव्यम् । सर्वस्यापि च संसारिण एतदुभयमप्यस्ति केवलं किञ्चित् कस्यचिदुपशान्तं वा क्षीणं वा उदीर्णं ततः सुख-दुःखवैचित्र्यं जन्तूनामितिवेदपदैः पुण्यपापयोः सिद्धिश्चेति ।

एवं च विभुश्रीवीरवचनैः छिन्नसन्देहो नवमश्रीअचल-भ्राताभिधोऽपि पण्डितः स्वत्रिशतछात्रपरिवारसमेतः प्रव्र-जितः । तत्क्षणाच्च "उपन्नेइ वा (१) विगमेइ वा (२) धुवेइ वा (३)" इति सर्वज्ञविभुश्रीवर्द्धमानस्वामिनो वदनाद् त्रिपदीं प्राप्य द्वादशाङ्गीं विरचितवान् ।

।। इति श्रीअचलभ्राताभिधो नवमो गणधरः ।।

(१०) अथ दशमो गणधरः श्रीमेतार्यः
'परलोकसंशयः'

तान् पूर्वोक्तान् श्रीइन्द्रभूत्यादीन् प्रधाननवपण्डितान् प्रव्रजितान् श्रुत्वा, दशमः **श्रीमेतार्यपण्डितोऽपि** निजत्रिशत-छात्रपरिवारसमेतः सर्वज्ञविभुश्रीवीरसकाशं आगच्छति। स च प्रभुसमीपं गत्वा जगन्नाथं नमस्कृत्य प्रमुदितस्तदग्रत-स्तस्थौ। आभाष्य च सुमधुरवाण्या प्रभुणा प्रोक्तम्—

अथ परभवसन्दिग्धं, मेतार्यं नाम पण्डितप्रवरम्।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि ?॥

यतः किं परलोको-भवान्तरगतिलक्षणोऽस्ति किं वा नाऽस्ति ? इति मन्यसे, हे मेतार्य ! तव हृदये परलोक-विषये सन्देहोऽस्ति। अयञ्च तव संशयः विरुद्धवेदपद-निबन्धनोऽस्ति। तानि चाऽमूनि वेदपदानि—**विज्ञानघन एवै-*तेभ्यो भूतेभ्यः*"** तथा ***"स वै अयमात्मा ज्ञानमयः"***

इत्यादीनि च । तेषां पदानामर्थं अस्मद् पूर्वोक्तप्रकारेण विभावय ।

हे मेतार्य ! एवं त्वं मन्यसे—भूतसमुदायधर्मश्चैतन्यमिति कुतो भवान्तरलक्षणपरलोकसम्भवः । भूतसमुदायविनाशे चैतन्याऽपि विनाशात् । अन्यमपि—भवेदात्मा तथापि स नित्योऽनित्यो वा ? तत्र नित्यपक्षे अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया परलोकाभावः । अनित्यपक्षेऽपि निरन्वयविनश्वरस्वभावतया कारणक्षणस्य सर्वथाविनाशे उत्तरकालमिह लोकोऽपि क्षणान्तरा प्रभव इति कुतः परलोकसम्भवः ?

तत्र वेदपदानां चाऽर्थोऽयम्—तत्र विज्ञानघनेत्यादीनां तु पूर्वमेव विशदविश्लेषितञ्च व्याख्यातम् । न च भूतसमुदायचैतन्यं, सन्निकृष्टदेहो लब्धावपि चैतन्यविशेषानुपलम्भात् । यथा घटात् पटः नोपलभ्यते च देहोपलब्धावपि चैतन्यविशेष इति । इतश्च देहादन्यच्चैतन्यं चलनादिचेष्टा निमित्तत्वात् । इह यत् यस्य चलनादिचेष्टा निमित्तं तत् ततो भिन्नं दृष्टं, यथा मरुत् पादपात् चलनादिचेष्टानिमित्तं च चैतन्यं देहस्येति । न देहस्य धर्मचैतन्यं, किन्त्वात्मनः तस्य चानादिमत्कर्म समालिङ्गितत्वाद् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तत्वात्, कर्मपरिणामापेक्षा जनादि वा

मानवादिपर्यायनिवृत्त्या देवादिपर्यायान्तरप्राप्तिः अस्ति अविरुद्धा इति परलोकसिद्धिः। यदपि च नित्याऽनित्यैकान्तपक्षोक्तं दूषणं, तदपि जात्यान्तरात्मक-नित्यानित्य शबलरूपपक्षम्—अभ्युपगमेन तिरस्कृतान्नेति। अतस्तेषां पदानां अर्थं अस्मदुक्तप्रकारेण विभावय यथा सन्देहो निवर्तते।

एवं च सर्वज्ञविभुश्रीवर्द्धमानस्वामिनो युक्तियुक्तसत्य-वचनैः छिन्नसन्देहो दशमश्रीमेतार्यः पण्डितोऽपि निजत्रिशत-छात्रपरिवारसहितः प्रव्रजितः। तत्क्षणाच्च "उपन्नेइ वा (१) विगमेइ वा (२) धुवेइ वा (३)" इति विभु-श्रीवीरवदनाद् त्रिपदीं प्राप्य द्वादशाङ्गीं विरचितवान्।

।। इति श्रीमेतार्य नाम दशमो गणधरः ।।

(११) अथ एकादशमो गणधरः श्रीप्रभासः
'मोक्षसंशयः'

तान् पूर्वोक्तान् श्रीइन्द्रभूत्यादिमेतार्यपर्यन्तान प्रधान-दशपण्डितान् निजछात्रपरिवारसहितान् प्रव्रजितान् श्रुत्वा षोडशलघुवयवान् एकादशमः श्रीप्रभासपण्डितोऽपि स्व-त्रिशतछात्रपरिवारसमेतः सर्वज्ञविभुश्रीमहावीरसकाशमा-गच्छति । स च प्रभुसमीपं गत्वा सर्वज्ञविभुं वन्दित्वा च प्रमुदितस्तदग्रतस्तस्थौ । आभाष्य च सुमधुरवाण्या विभुना प्रोक्तम्—

निर्वाणविषयसन्देह-संयुतं च प्रभासनामानम् ।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि ? ।।

"हे प्रभास ! किं निर्वाणं (मोक्षं) अस्ति न वा इति मन्यसे । संशयस्तवोऽयं विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनः । तानि चामूनि वेदपदानि—**"जरामर्यं वा यदग्निहोत्रं"** तथा "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये, परमपरं च, तत्र परं सत्यज्ञानं, अनन्तरं ब्रह्म" इति । तेषां अयमर्थस्तव चेतसि अनुभूयते ।

यदेतदग्निहोत्रं तत् जरामर्यं एव—यावज्जीवं कर्त्तव्यम्, अर्थात् सर्वदा कर्त्तव्यमिति । अत्र अग्निहोत्रस्य सर्वदा कर्त्तव्यता प्रोक्ता, अग्निहोत्रक्रिया च निर्वाण (मोक्ष) कारणं न भवति, शबलत्वात् । केषाञ्चिद्वधकारणं तथा केषाञ्चिद् उपकारकारणमिति । ततो निर्वाणसाधकाऽनुष्ठानक्रियाकालस्याऽनुक्तत्वात् मोक्षो नास्तीति । तस्माद् मोक्षाभावः प्रतीयते ।

"तथा "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये, परम्परं च, तत्र परं सत्यज्ञानं, अनन्तरं ब्रह्म" इति । इत्यादिवेदपदैः मोक्षसत्ता प्रतीयते । इति तव सन्देहः स्यात् । एतद्विषये पूर्वं कथितम्—"यदेतदग्निहोत्रं तत् जरामर्यं एव०" यावज्जीवं कर्त्तव्यमिति, अग्निहोत्रक्रिया च भूतवधहेतुत्वात् शबलरूपा । सा च स्वर्गफलैव स्यात्, नापवर्गफला, यावज्जीवमिति चोक्ते कालान्तरं नास्ति । अत्रापवर्गहेतुभूतक्रियान्तरारम्भः, तस्मात् साधनाभावात् मोक्षाभावः । तदेवममूनि वेदपदानि मोक्षाभाव प्रतिपादकानि । तथा "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये०" इति तु तद् (मोक्ष) सत्ता सूचकानि । यतो गुहाऽत्र युक्तिरूपा, सा च जगदाभिनन्दिना दुःखगाह्य । तथा परं ब्रह्म मोक्षः अनन्तरं तु ज्ञानमिति । अमूनि मोक्षास्तित्वप्रतिपादकानि, इति तव संशयः ।

"त्वं मन्यसे–संसारभवो मोक्षः, संसारश्च रागादि-निबन्धनः, रागादीनां चात्यन्तिकः क्षयोऽनुपपन्नः। रागादयः जन्तोः अनादिमन्तः इति सत्यम्। यच्चानादिमत् न तद् विनाशमाविशति। तथा प्रमाणेन प्रतीतेः। तच्च प्रमाणमिदं यदनादिमत् न तद् विनाशमाविशति। यथाऽऽकाशं अनादिमन्तश्च। रागादय आत्मनो व्यतिरिक्ता वा भवेयुः अव्यतिरिक्ता। व्यतिरेके सर्वेषां वीतरागत्व-प्रसङ्गः। तद् व्यतिरिक्तत्वात् विवक्षितपुरुषवत्। तथैव आत्मनोऽपि क्षयप्रसङ्गः। तदव्यतिरिक्तत्वात् तत्स्वरूपं अतः कुतस्तस्य वस्तुतो मोक्षः? तस्यैवाभावात् इति।

"त्वं सुष्ठु न जानासि। अतस्तेषां अयमर्थः–"जरामर्यं वा यदग्निहोत्रं" तत् यावज्जीवं-सर्वकालं कर्त्तव्यम्। वा शब्दात् मोक्षार्थमपि अनुष्ठानं विधेयम्। नाऽपवर्गप्रापण-क्रियारम्भ कालास्तिता निषिद्धा। तथा यद्यपि रागादयो दोषा जन्तोरनादिमन्तस्तथाऽपि कस्यचिद् स्त्रीशरीरादिषु यथावस्थित वस्तुतत्त्वागमेन तेषां प्रतिपक्षभावनातः प्रति-क्षणमपचयो दृश्यते। उच्यते–प्रतिबन्धग्रहणात् यथा स्पर्शस्याद्या रोमाञ्चादयः शीतप्रतिपक्षस्य वह्नेः मन्दतायां मन्दा उपलब्धाः, उत्कर्षे च निरन्वयविनाशधर्माणः। ततः अन्यत्राऽपि बाधकस्य मन्दतायां बाध्यस्य मन्दता दर्शनात्। बाधकोत्कर्षे बाध्यस्यावश्यं निरन्वयविनाशः

वेदितव्यः । तथाहि घटाद् व्यावर्तते पटः, घटव्यावृत्ति-स्वभावतया, स्तम्भादपि चेत् घटव्यावृत्तिस्वभाव तथैव व्यावर्तते, तर्हि बलात् स्तम्भस्य घटस्वरूपता प्रसक्तिः, अन्यथा ततस्तत्स्वभावतया तद् व्यावृत्ययोगात् । तस्मात् यतो व्यावर्त्तते यत् तत् व्यावृत्ति निमित्तभूताः स्वभावाः अवश्यं अभ्युपगन्तव्याः ।

"अन्यच्चोच्यते–इह यद्यपि तादात्म्येन धर्मिणा धर्माः सर्वे व्याप्ताः तथाप्ययं धर्मी च एते धर्माः इति परस्परं भेदेन भेदवन्तं सन्ति अन्यथा तद्भावानुपपत्तिः । तथा च सति प्रतीति बाधा, मिथो भेदेऽपि धर्माधर्मिणां व्याप्तव्यात् । अभेदः अपि अस्ति, अन्यथा तस्य धर्म इति सम्बन्धस्य अनुपपत्तिः. ततश्च न सर्वेषां वीतरागत्वप्रसङ्गः । केवल-भेदस्य अनभ्युपगमात्, नापि दोषक्षये तद् आत्मनोऽपि क्षयः । ततो निर्वाणसाधकानुष्ठानकालोऽप्युक्त एव तस्माद् अस्ति निर्वाणम् (मोक्षम्) सिद्धमेवेति ।"

एवं च सर्वज्ञविभुवीतरागश्रीवर्द्धमानस्वामिनो युक्तियुक्त-सत्यवचनैः छिन्नसन्देहः । षोडशवयेऽप्यातिप्रतिभासम्पन्नः एकादशम श्रीप्रभासपण्डितोऽपि स्वत्रिशतछात्रपरिवारसमेतः प्रव्रजितः । तत्क्षणाच्च "उपन्नेइ वा (१) विगमेइ वा (२) धुवेइ वा (३)" इति प्रभुश्रीमहावीरस्वामिनो-वदनाद् त्रिपदीं प्राप्य द्वादशाङ्गीं विरचितवान् ।

।। इति श्रीप्रभासनाम एकादशमो गणधरः ।। ☐

एकादश मुख्याः

एवं चतुश्चत्वारिंशच्छतानि (४४००) परिवार-युक्ताः विप्राः सर्वज्ञविभुश्रीवर्द्धमानस्वामिनोऽन्तिके प्रव्रजिताः। तेषु मध्ये मुख्यानां श्रीइन्द्रभूतिप्रमुखानां एकादशानां उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप-त्रिपदी-ग्रहणपूर्वकं एकादशाङ्गचतुर्दशपूर्वरचना गणधरपदप्रतिष्ठा च, तत्र श्रीआचाराङ्गादिसूत्ररूप-द्वादशाङ्गीरचनाऽनन्तरं सर्वज्ञविभु-श्रीमहावीरभगवांस्तेषां तदनुज्ञां करोति। तस्मिन् समये शक्रेन्द्रश्च दिव्यं वज्रमयस्थालं दिव्यचूर्णानां भृत्वा त्रिलोकनाथः सन्निहितो भवति। ततः श्रीवीरविभुःदिव्य-रत्नमयसिंहासनाद् समुत्थाय सम्पूर्णां दिव्यचूर्णमुष्टिं गृह्णाति। ततः श्रीइन्द्रभूतिप्रमुखा एकादशापि गणधरा ईषदवनताः क्रमशः तिष्ठन्ति, देवाः दिव्यवाजित्रध्वनि-गीतादिनिषेधं विधाय तूष्णीकाः शृण्वन्ति। तदनु ततो भगवान् श्रीवर्द्धमानस्वामी पूर्वं तावत् कथयति—**'गौतमस्य द्रव्य-गुण-पर्यायैस्तीर्थं अनुजानामि' चूर्णांश्च तन्मस्तके क्षिपति,** तस्मिन् समये विबुधा अपि दिव्यचूर्णपुष्पगन्धवृष्टिं तस्योपरि कुर्वन्ति, गणं च वै श्रीवर्द्धमानविभुः दीर्घायुषि पञ्चमगणधरं **श्रीसुधर्मस्वामिनं** धुरि व्यवस्थाप्य अनुजानाति। अधुनाऽपि वर्त्तमानकालीनजिनशासने विभु-श्रीमहावीरस्य सुधर्मस्वामिनः पट्टपरम्परा प्रवर्त्तते।

प्रशस्तिः

इति श्रीशासनसम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्त्ति-तपोगच्छाधिपति-भारतीयभव्यविभूति-अखण्डब्रह्मतेजोमूर्त्ति-अद्वितीयव्याख्यानवाचस्पति - महान्प्रभावशालि - प्राचीनश्रीकदम्बगिरिप्रमुखानेकतीर्थोद्धारक - वलभीपुरनरेशाद्यनेकनृपप्रतिबोधक-पञ्चप्रस्थानमयसूरिमन्त्रसमाराधक-न्यायव्याकरणाद्यनेकग्रन्थसर्जक-षट्दर्शनादिशास्त्रपारङ्गत-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-वचनसिद्ध-परमपूज्याचार्यमहाराजाधिराज **श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वराणां** दिव्यपट्टालङ्कार-परमशासनप्रभावक-साहित्यसम्राट्-व्याकरणवाचस्पति - शास्त्रविशारद- कविरत्न-साधिकसप्तलक्षश्लोकप्रमाणनूतनसंस्कृतसाहित्यसर्जक - निरुपमव्याख्यानामृतवर्षि-बालब्रह्मचारी-परमपूज्याचार्यप्रवर **श्रीमद्विजयलावण्यसूरीश्वराणां** प्रधानपट्टधर-धर्मप्रभावक-शास्त्रविशारद कविदिवाकर - व्याकरणरत्नस्याद्यन्तरत्नाकराद्यनेकग्रन्थसर्जक-देशनादक्ष-बालब्रह्मचारी-परमपूज्याचार्यवर्य **श्रीमद्विजयदक्षसूरीश्वराणां** पट्टधर-जैनधर्मदिवाकर-शासनरत्न-तीर्थप्रभावक-राजस्थानदीपक-मरुधरदेशोद्धारक-शास्त्रविशारद-साहित्यरत्न - कविभूषण-सूरिमन्त्रसमाराधक-अष्टोत्तरशतग्रन्थसर्जक-बालब्रह्मचारी-आचार्य **श्रीमद्विजयसुशीलसूरिणा** विरचितः सरलसंस्कृतगद्यमयोऽयं **'श्रीगणधरवादः'** समाप्तः ।

□

श्रीवीर सं. २५१३ ।
विक्रम सं. २०४३ ।
नेमि सं. ३८ तमे वर्षे वैशाखशुक्लषष्ठ्यां तिथौ सोमवासरे श्रीभारतदेशे राजस्थानप्रान्ते मरुधरप्रदेशे जवालीनगरे, विशालकायनूतनजिनमन्दिरे, मूलनायक श्रीधर्मनाथादिजिन-बिम्बादीनां प्रतिष्ठामङ्गलदिने ।

॥ शुभं भवतु श्रीसंघस्य ॥

(वैशाख सुद ६ सोमवार, दिनांक ४-५-१९८७)

श्रीनेमि - लावण्य - दक्ष - सुशीलग्रन्थरत्नमाला रत्न ७५वाँ

गणधरवाद

[हिन्दी भाषा में]

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

— लेखक —

आचार्य श्रीमद् विजय सुशीलसूरि महाराज

गणधरवाद

(हिन्दीभाषा में)

विषयानुक्रमणिका

क्र.सं.	शीर्षकनाम	पृष्ठ सं.
१	गणधरवाद का प्रारम्भ	१
२	मुख्य ग्यारह ब्राह्मण पण्डित	६
३	पहले गणधर श्रीइन्द्रभूति (जीव-आत्मा का संशय)	१३
४	दूसरे गणधर श्रीअग्निभूति (कर्म का संशय)	७२
५	तीसरे गणधर श्रीवायुभूति (शरीर ही जीव है ? संशय)	८०
६	चौथे गणधर श्रीव्यक्तजी (पंचभूत के अस्तित्व में संशय)	८८
७	पाँचवें गणधर श्रीसुधर्मास्वामी ('जैसा यहाँ वैसा ही जन्म परभव में' संशय)	९३
८	छठे गणधर श्रीमण्डिनजी (बन्ध-मोक्ष का संशय)	९९
९	सातवें गणधर श्रीमौर्यपुत्र (देवविषयक संशय)	१०७
१०	आठवें गणधर श्रीअकम्पित (नारकविषयक संशय)	११४
११	नौवें गणधर श्रीअचलभ्राता (पुण्यपापविषयक संशय)	१२१
१२	दसवें गणधर श्रीमेतार्य (परभवविषयक संशय)	१२७
१३	ग्यारहवें गणधर श्रीप्रभास (मोक्षविजयक संशय)	१३३
१४	उपसंहार	१४५
१५	अनुपम शासनप्रभावना	१४७

❑

卐 ॐ ह्रीं अर्हं नमः 卐

।। श्रीवर्द्धमानस्वामिने नमः ।।

।। श्रीगौतमस्वामिने नमः ।।

।। सद्गुरवे नमः ।। 卐 ।। ऐं नमः ।।

श्रीगणधरवाद

अनादि अनन्तकालीन यह विश्व है। इसमें अनादि काल से कालचक्र चल रहा है। इसके दो विभाग हैं। उत्सर्पिणीकाल और अवसर्पिणीकाल। उत्सर्पिणीकाल के छह आरे हैं और अवसर्पिणीकाल के भी छह आरे हैं। दोनों में क्रमशः धर्मतीर्थ प्रवर्ताने वाले चौबीस तीर्थंकर परमात्मा अवश्यमेव होते हैं। प्रस्तुत अवसर्पिणीकाल में इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र, दक्षिणार्धभरत और उसके

मध्यखण्ड के विभाग में क्रमशः चौबीस तीर्थंकर भगवन्त हुए हैं। प्रथम श्री ऋषभदेव तीर्थंकर भगवन्त से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर भगवन्त श्री महावीर स्वामी परमात्मा ई. सन् पूर्व ५९९ में हुए।

आज से श्री वीर सं. २५१३ वर्ष तथा विक्रम सं. २०४३ वर्ष पूर्व इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र, दक्षिणार्धभरत और मध्यखण्ड में स्थित भारत देश के क्षत्रियकुण्डग्रामनगर में क्षत्रिय श्री सिद्धार्थ महाराजा की राणी श्री त्रिशलादेवी क्षत्रियाणी की कुक्षि से महावीर चैत्र सुदी १३ को मध्य रात्रि में जन्मे और ३० वर्ष तक संसार में रहे। उन्होंने ३१ वें वर्ष के मागसर (कार्त्तिक) वद दशमी के दिन दीक्षा ली। उसी दिन चतुर्थ मनःपर्यवज्ञान प्राप्त किया। संयम में साढ़े बारह वर्ष पर्यन्त घोर तपस्या करते हुए उन्होंने दैविक तथा मनुष्य-तिर्यंचादि के भयंकर उपसर्ग और शीत-तापादिक के अति घोर परीषह समभाव से सहन किये।

तपश्चर्या में एक छह मासी तप, एक पाँच दिन न्यून छह मासी तप, नौ चौमासी तप, दो तीन मासी तप, दो ढाई मासी तप, छह दो मासी तप, दो डेढ़ मासी तप, बारह मासक्षपण, बहत्तर पक्षक्षपण, चार दिन की एक

महाभद्रप्रतिमा, दो दिन के प्रमाण वाली एक भद्रप्रतिमा, दस दिन के प्रमाण वाली एक सर्वतोभद्र प्रतिमा, दो सौ उन्तीस छठ्ठ और बारह अट्ठम किये। सभी तपश्चर्या में अशन, पान, खादिम और स्वादिम इन चारों प्रकार के आहार का त्याग किया। जल भी नहीं लिया। जब पारणा का प्रसंग आ जाता तब भी जो प्रासुक भिक्षा मिलती, वह भी एक ही बार वापरते। प्रभु ने बारह वर्ष छह मास और पन्द्रह दिन में मात्र तीन सौ उनपचास पारणे ही किये। न नित्य और न एकान्तर में भी पारणे किये। इस तरह उत्तम आराधना करते हुए आत्मध्यान में निमग्न रह कर प्रभु महावीर महीतल पर विचर रहे हैं। साढ़े बारह वर्ष और पन्द्रह दिन बीत जाने के बाद, ग्रीष्मकाल में वैशाख सुदी दशमी के दिन, पूर्वगामिनी छाया आते हुए, अन्तिम पोरिसी में सुव्रत नाम के दिन में, विजय मुहूर्त्त में, जुम्भिक ग्राम नगर के बाहर के विभाग में, ऋजुवालिका नदी के उत्तरी तट पर, व्यावृत्त नामक जीर्ण व्यन्तर के चैत्य के समीप, श्यामक नामक गाथापति के क्षेत्र में, शालवृक्ष के नीचे, गोदोहिका की माफिक उत्कटिक आसन में, सूर्य के ताप द्वारा आतापना लेते हुए, चौविहार छठ्ठ की तपश्चर्या वाले तथा शुक्ल ध्यान के मध्य भाग में वर्त्तते हुए ऐसे **श्रमण भगवान् महावीर परमात्मा**

ने उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में चन्द्रमा का योग प्राप्त होते हो स्वात्म के समूल चार घाती कर्म का सर्वथा क्षय करके अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, कृत्स्न और परिपूर्ण ऐसे लोकालोकप्रकाशक केवलज्ञान तथा केवलदर्शन को प्राप्त किया। अर्थात् प्रभु को पंचम केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुआ; जिससे सर्वज्ञ बने हुए श्री महावीर परमात्मा सर्व जीवों के तथा विश्व के सारे पुद्गलों के अनन्तानन्त काल के सभी पर्याय दृष्टि सन्मुख हथेली में रहे हुए आवले की माफिक स्पष्ट रूप में प्रत्यक्ष देखते हैं और जानते भी हैं।

उस वक्त सम्पूर्ण लोक आलोकित हो उठा। देवों द्वारा दिव्य समवसरण की रचना की गई। वहाँ पर प्रभु ने देवों के समक्ष क्षणवार धर्मदेशना दी, लेकिन किसी के भी विरति के परिणाम नहीं होने से ऊसर भूमि में पड़ी हुई वृष्टि की माफिक यह धर्मदेशना निष्फल[१] हुई। बाद में प्रभु वहाँ से विहार कर **अपापापुरी के महसेन** नाम के उद्यान में पधारे। देवों ने इधर भी वैशाख सुद ११ के दिन रजत, स्वर्ण और रत्नमय तीन गढ़ युक्त दिव्य

---

१. इस प्रसंग को शास्त्र में जैनाचार्यों ने आश्चर्य रूप में अभिव्यक्त किया है। (आवश्यक निर्युक्ति)

समवसरण की सुन्दर रचना की। उसमें अशोक **वृक्ष के** नीचे देव निर्मित रत्न सिंहासन पर प्रभु **श्री वर्द्धमान स्वामी-महावीर परमात्मा** विराजित हुए।

इस समय अपापापुरी में **सोमिल** नामक एक धनाढ्य विप्र अपने गृह के विशाल प्रांगण में यज्ञ करवाता था। इसमें उसने वेदशास्त्र के महान् धुरन्धर पण्डित और चौदह विद्या के पारंगत ऐसे मुख्य ग्यारह ब्राह्मणों को अपने परिवार समेत आमन्त्रित किया था और भी अनेक ब्राह्मण आमन्त्रण से आये हुए थे। यज्ञ कराने वाले सोमिल विप्र के गृहद्वार पर यज्ञोत्सव की काफी चहल-पहल थी। अधिक संख्या में वैदिक-दर्शन के जाने-माने पण्डितवृन्द एकत्र हुए थे।

※ मुख्य ग्यारह ब्राह्मण पण्डित ※

सर्वज्ञ विभु श्री महावीर परमात्मा के होने वाले ग्यारह गणधर इधर यज्ञ-मण्डप में मुख्य रूप में ब्राह्मण पण्डित थे। उनके नाम इस प्रकार हैं–

(१) श्री इन्द्रभूति, (२) श्री अग्निभूति, (३) श्री वायुभूति, (४) श्री व्यक्त, (५) श्री सुधर्मा, (६) श्री मण्डित, (७) श्री मौर्यपुत्र, (८) श्री अकम्पित, (९) श्री अचलभ्राता, (१०) श्री मेतार्य एवं (११) श्री प्रभास। इन ग्यारह में से प्रत्येक पण्डित अपने आप को महान् समर्थ पण्डित मानता था। विश्व में '**सर्वज्ञोऽहम्**' इस तरह अभिमान धारण करते हुए भी प्रत्येक को भिन्न-भिन्न तत्त्व-पदार्थ पर सन्देह था।

इन ग्यारह ब्राह्मण पण्डितों में किस-किस को किस-किस विषय में सन्देह था, वह क्रमशः उनके संक्षिप्त परिचय के साथ में नीचे बताते हैं–

(१) **श्री इन्द्रभूति**–इनका जन्म मगध देश के **गोबर गाँव** में ज्येष्ठा नक्षत्र और वृश्चिक राशि में हुआ था।

पिता का नाम **वसुभूति ब्राह्मण**, माता का नाम **पृथ्वीदेवी** तथा दो बन्धुओं का नाम **अग्निभूति** एवं **वायुभूति** था। गौतम गोत्र, वज्रऋषभनाराच संघयण तथा समचतुरस्र संस्थान था। इनका ज्ञान न्याय-व्याकरण-काव्य-अलंकार-पुराण-उपनिषद्-वेद इत्यादि स्वधर्मशास्त्र का था। ये चौदह विद्या के पारंगत थे और अपने ५०० छात्रों को पढ़ाते थे तथा यज्ञादिक की क्रिया आदि भी करवाते थे। **'सर्वज्ञोऽहम्'** का अभिमानपूर्वक दावा करते थे। इतना होने पर भी अपने अन्तःकरण में वेदपदों और उनके अर्थ के सम्बन्ध में परस्पर आते हुए विरोध से **'जीव-आत्मा है कि नहीं ?'** उनका यह संदेह-संशय अवश्य था।

(२) **श्रीअग्निभूति**—ये श्री इन्द्रभूति विप्र के लघु बन्धु थे तथा अपने ५०० छात्रों के अध्यापक थे। इनका जन्म वृषभ राशि और कृत्तिका नक्षत्र में हुआ था। इनका शेष जीवन परिचय प्रथम गणधर श्रीइन्द्रभूति की माफिक जानना। इनको भी **'कर्म है कि नहीं ?'** इस विषय का संदेह-संशय अपने अन्तःकरण में था।

(३) **श्रीवायुभूति**—ये श्री इन्द्रभूति तथा श्री अग्निभूति के लघु बन्धु थे तथा अपने ५०० छात्रों के अध्यापक थे। इनका जन्म तुला राशि और स्वाति नक्षत्र में हुआ

था। इनके जीवन का शेष परिचय प्रथम गणधर श्री इन्द्रभूति आदि की माफिक जानना। इनको भी **'जो शरीर है वो ही आत्मा है कि शरीर से आत्मा भिन्न है ?'** इस विषय का संदेह-संशय अपने हृदय में था।

(४) **श्रीव्यक्त**–इनका जन्म **कोल्लाक गाँव** में मकर राशि और श्रवण नक्षत्र में हुआ था। इनके पिता का नाम **धनमित्र ब्राह्मण,** माता का नाम **वारुणीदेवी** और गोत्र का नाम **भारद्वाज गोत्र** था तथा ये अपने ५०० छात्रों के अध्यापक थे। इनके जीवन का शेष परिचय श्री इन्द्रभूति आदि की माफिक जानना। इनको भी **'पृथ्वी आदि पञ्चभूत हैं कि नहीं ?'** इस विषय का संदेह-संशय अपने अन्तःकरण में था।

(५) **श्रीसुधर्मा**–इनका जन्म **कोल्लाक गाँव** में कन्या राशि और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में हुआ था। इनके पिता का नाम **धनमित्र ब्राह्मण,** माता का नाम **भद्दिलादेवी** और गोत्र का नाम **अग्निवैशायन गोत्र** था तथा ये अपने ५०० छात्रों के अध्यापक थे। इनके जीवन का शेष परिचय श्री इन्द्रभूति आदि की माफिक जानना। इनको भी **'जो प्राणी जैसा इस भव में होता है, वैसा ही परभव**

में होता है कि अन्य स्वरूप में ?' इस विषय का संदेह-संशय अपने हृदय में था ।

(६) **श्रीमण्डित**—इनका जन्म **मौर्य सन्निवेश गाँव** में सिंह राशि और मघा नक्षत्र में हुआ था । इनके पिता का नाम **धनदेव ब्राह्मण**, माता का नाम **विजयादेवी** और गोत्र **वासिष्ठ गोत्र** था तथा ये अपने ३५० छात्रों के अध्यापक थे । इनके जीवन का शेष परिचय श्री इन्द्रभूति आदि की तरह जानना । इनको भी **'बन्ध-मोक्ष हैं कि नहीं ?'** इस विषय का संदेह-संशय अपने अन्तःकरण में था ।

(७) **श्रीमौर्यपुत्र**—इनका जन्म **मौर्य सन्निवेश गाँव** में वृषभ राशि और मृगशिरा नक्षत्र में हुआ था । इनके पिता का नाम **मौर्य ब्राह्मण,** माता का नाम **विजयादेवी** और गोत्र का नाम **काश्यप गोत्र** था तथा ये अपने ३५० छात्रों के अध्यापक थे । इनके जीवन का शेष परिचय श्री इन्द्रभूति आदि की मुताबिक जानना । इनको भी **'देव है कि नहीं ?'** इस विषय का संदेह-संशय अपने हृदय में था ।

(८) **श्रीअकम्पित**—इनका जन्म **मिथिलानगरी** में मकर राशि और उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में हुआ था । पिता

का नाम **देवद्विज,** माता का नाम **जयन्तीदेवी** और गोत्र **गौतम** था। ये अपने ३०० छात्रों के अध्यापक थे। इनके जीवन का शेष परिचय श्रीइन्द्रभूति आदि की माफिक जानना। इनको भी **'नारक है कि नहीं ?'** इस विषय का संदेह-संशय अपने अन्तःकरण में था।

(९) **श्रीअचलभ्राता**--इनका जन्म **कोशला (अयोध्या) नगरी में,** मिथुन राशि और मृगशिरा नक्षत्र में हुआ था। पिता का नाम **वसुदेव द्विज,** माता का नाम **नन्दादेवी** और गोत्र का नाम **हारिय गोत्र** था तथा ये अपने ३०० छात्रों के अध्यापक थे। इनके जीवन का शेष परिचय श्रीइन्द्रभूति आदि की मुताबिक जानना। इनको भी **'पुण्य-पाप है कि नहीं ?'** इस विषय का संदेह-संशय अपने हृदय में था।

(१०) **श्रीमेतार्य**--इनका जन्म वच्छदेशान्तर्गत **तुंगिक** नामक गाँव में, मेष राशि और अश्विनी नक्षत्र में हुआ था। पिता का नाम **दत्त ब्राह्मण,** माता का नाम **वरुणादेवी** और गोत्र का नाम **कौडिन्य गोत्र** था। ये अपने ३०० छात्रों के अध्यापक थे। इनके जीवन का शेष परिचय श्रीइन्द्रभूति आदि की माफिक जानना।

❀ ११ गणधर, उनके परिवार और संदेह

नाम	(१) श्री इन्द्रभूति	(२) श्री अग्निभूति	(३) श्री वायुभूति	(४) श्री व्यक्त	(५) श्री सुधर्मा	(६) श्री मंडित	(७) श्री मौर्यपुत्र	(८) श्री अकम्पित	(९) श्री अचल-भ्राता	(१०) श्री मेतार्य	(११) श्री प्रभास
शिष्य परिवार की संख्या	५००	५००	५००	५००	५००.	३५०	३५०	३००	३००	३००	३००
संदेह (संशय)	जीव है कि नहीं ?	कर्म है कि नहीं ?	शरीर ही जीव है कि उससे भिन्न है ?	पंच-भूत (पृथ्वी आदि) है कि नहीं?	जैसा यहाँ वैसा ही जन्म परभव में है कि नहीं?	बन्ध और मोक्ष हैं कि नहीं?	देव है कि नहीं ?	नारक है कि नहीं ?	पुण्य-पाप है कि नहीं ?	परलोक है कि नहीं ?	मोक्ष है कि नहीं ?

इनको भी **'परलोक है कि नहीं ?'** इस विषय का संदेह-संशय अपने अन्तःकरण में था।

(११) **श्रीप्रभास**–इनका जन्म **राजगृही नगरी** में, कर्क राशि और पुष्य नक्षत्र में हुआ था। पिता का नाम **बल (बलभद्र) द्विज,** माता का नाम **अतिभद्रा (अतिबला)** और गोत्र का नाम **कौडिन्य गोत्र** था तथा ये अपने ३०० छात्रों के अध्यापक थे। इनके जीवन का शेष परिचय श्रीइन्द्रभूति आदि की माफिक जानना। इनको भी **'मोक्ष है कि नहीं ?'** इस विषय का संदेह-संशय अपने अन्तःकरण में था।

ये ग्यारह पण्डित अपने अन्तःकरण-हृदय में एक-एक विषय का संदेह-संशय होते हुए भी अपने को **'सर्वज्ञोऽहम्'** अर्थात् **'मैं सर्वज्ञ हूँ'** इस तरह असत्य अभिमान धरने वाले थे। अपने सर्वज्ञत्व के प्रौढ़त्व एवं घमण्ड से अपने को सर्वोपरि मानते थे तथा यही समझते थे कि हमारे रहते हुए और कौन सर्वज्ञता को धारण कर सकता है तथा अपने सर्वज्ञपने के अभिमान की क्षति के भय से अपने संदेह-संशय के विषय में परस्पर पूछते भी नहीं थे।

ये ग्यारह पण्डित तथा इनके छात्र-विद्यार्थी सभी

मिलकर चार हजार चार सौ (४४००) शिष्य श्री सोमिल विप्र के वहाँ पर यज्ञ-मण्डप में आये हुए थे। इनके अलावा भी अनेक ब्राह्मण यज्ञ-मण्डप में एकत्र हुए थे। इनमें **उपाध्याय**–शंकर, ईश्वर, शिवजी नाम के थे। **जानि**–गंगाधर, महीधर, भूधर, लक्ष्मीधर नाम के थे। **पिण्ड्या**–विष्णु, मुकुन्द, गोविन्द, पुरुषोत्तम, नारायण नाम के थे। **दुवे**–श्रीपति, उमापति, विद्यापति, गणपति, जयदेव नाम के थे। **व्यास**–महादेव, शिवदेव, मूलदेव, सुखदेव, गङ्गापति, गौरीपति नाम के थे। **त्रिवाडी**–श्रीकण्ठ, नीलकण्ठ, हरिहर नाम के थे। **रामजी**–बालकृष्ण, यदुराम, राम, रामाचार्य नाम के थे। **राउल**–मधुसूदन, नरसिंह, कमलाकर, सोमेश्वर, हरिशंकर, त्रिकम नाम के थे। **जोसी**–पूनो, रामजी, शिवराम, देवराम, गोविन्दराम, रघुराम तथा उदिराम इत्यादि भी थे।

ये सभी ब्राह्मण यज्ञकर्म के लिये एकत्र हुए थे। इधर यज्ञ-मण्डप में यज्ञ चल रहा है और वहाँ पर अपापापुरी के महसेन वन में देवों द्वारा रचित दिव्य समवसरण में सर्वज्ञ विभु श्रमण भगवान्श्री महावीर परमात्मा रत्नजड़ित दिव्य सिंहासन पर विराजित सुन्दर शोभ रहे हैं। उनको वन्दन करने के लिये आते हुए देवों

को देखकर, यज्ञ-मण्डप में यज्ञ-विधि कराते हुए श्री इन्द्रभूति आदि पण्डित सानंद विचार करते हैं कि 'अहो ![1] यज्ञस्य महिमा ! यदेते सुराः साक्षात् समागताः ।'

इस तरह यज्ञ-मण्डप में देवों के आगमन की राह देखते हुए ब्राह्मण आकाश की तरफ दृष्टि रख कर देख रहे थे। इतने में तो देवों को यज्ञ-मण्डप छोड़कर आगे जहाँ सर्वज्ञ विभु दिव्य समवसरण में विराजमान थे, वहाँ जाते हुए देखकर सभी ब्राह्मण खिन्न हो गये। बाद में उन्होंने लोकमुख से भी सुना कि **'ये देव समीप में रहे हुए किसी सर्वज्ञ विभु को वन्दन करने के लिये जा रहे हैं।'** **'सर्वज्ञ'** ऐसा शब्द सुनते ही सब में मुख्य श्रीइन्द्रभूति द्विज जो सर्वज्ञत्व के मिथ्याभिमान से कलुषित था, वह ईर्ष्या और कोप से चिन्तवने लगा कि 'अरे ! **मैं सर्वज्ञ** इधर विद्यमान हूँ, तो भी अन्य अपने को सर्वज्ञ तरीके प्रख्यापित करने की धृष्टता-चेष्टा करता है ?' कर्ण को असह्य ऐसा कटु वचन क्यों सुना जाय ?

'मेरे रहते हुए यह अन्य कौन सर्वज्ञ है ?' किसी

---

१. अहो ! इस यज्ञ की महिमा अति-अद्‌भुत है कि जिसमें साक्षात् देव भी दर्शन के लिये आ रहे हैं।

धूर्त के द्वारा कोई मूर्ख ठगा जाय, यह बात तो बनने योग्य है, किन्तु यह तो कोई महाधूर्त लगता है कि जिसने देवों को भी ठग लिया है। इस कारण से देव इस पवित्र यज्ञ-मण्डप को और सर्वज्ञ ऐसे मुझको भी छोड़कर उसके पास जा रहे हैं। अहो! ये देव भी कैसे भ्रमित हो गये हैं। जैसे **'तीर्थाम्भ इव वायसाः'** अर्थात् जिस तरह कौए तीर्थ के जल को छोड़कर घड़े के जल में अपनी चोंच मारते हैं, **'कमलाकरवद्भेकाः'** भेक-देडकाएँ कमलाकर सरोवर को छोड़कर खाबोचिया में कुदकी मारते हैं, **'मक्षिकाश्चन्दनम्'** मक्षिकाएँ सुगन्धित चन्दन को छोड़कर विष्टा पर बैठती हैं, **'करभा इव सद्वृक्षान्'** करभ—ऊँट उत्तम ऐसे द्राक्षादिक वृक्षों को छोड़कर नीम को खाने के लिये जाता है, **'क्षीरान्नं शूकरा इव'** शूकर-भूंडो क्षीरान्न को छोड़कर विष्टा में आनन्द मानने के लिये चला जाता है तथा **'अर्कस्यालोकवद् घूकाः'** सूर्य के झलहलते प्रकाश को छोड़ देने वाले ऐसे घूक-घूवड़ों हैं; उसी तरह भ्रान्ति पाये हुए ये देव पवित्र ऐसे इस यज्ञ-मण्डप को देख कर भी वहाँ जा रहे हैं। **'यादृशोऽयं सर्वज्ञस्तादृशा एवैते देवाः, अनुरूप एव संयोगः।'** अर्थात् इससे यह लगता है कि जैसे यह सर्वज्ञ है वैसे ही ये देव भी हैं। खरेखर समान-समान ही का संयोग अनुरूप होता है। विश्व में भी देखते

हैं कि आम्रवृक्ष के सुगन्धित महोर पर भ्रमर गुंजार करते हुए एकत्र होते हैं, किन्तु नीम के वृक्ष पर तो व्याकुल बना हुआ कौओं का टोला एकत्र होता है। इधर भी ऐसा ही हो रहा है। भले! ऐसा हो, इससे तुम्हारा क्या बिगड़ता है?

अपने सर्वज्ञपने के अभिमान में रहे हुए श्री इन्द्रभूति कहते हैं–चाहे कितना भी कुछ हो, तो भी मैं इस मिथ्याभिमानी महाधूर्त के सर्वज्ञपने के आटोप-आडम्बर को किसी भी रीति से सहन नहीं कर सकता? कारण कि–

व्योम्नि सूर्यद्वयं किं स्याद्, गुहायां केसरिद्वयम्।
प्रत्याकारे च खड्गौ द्वौ, किं सर्वज्ञवहं स च॥

क्या आकाश में दो सूर्य हो सकते हैं? क्या एक गुफा में दो सिंह रह सकते हैं? क्या एक म्यान में दो खड्ग (तलवार) रह सकती हैं? जो ये सभी नहीं हो सकते तो एक ही स्थान में मैं और वह, इस प्रकार दो सर्वज्ञ किस तरह से हो सकते हैं? अर्थात् आकाश में दो सूर्य, गुफा में दो केसरीसिंह तथा म्यान में दो खड्ग एक साथ कदापि नहीं रह सकते, उसी प्रकार यहाँ भी दो सर्वज्ञ एक साथ नहीं रह सकते। मैं भी सर्वज्ञ और वह भी सर्वज्ञ, ऐसा नहीं हो सकता।

इधर सर्वज्ञ विभु श्री महावीर परमात्मा को वन्दन कर लौटते हुए लोगों को सामर्ष एवं ईर्ष्याजन्य उपहास-पूर्वक श्रीइन्द्रभूति ने पूछा–'**भो ! भो ! दृष्टः स सर्वज्ञः ? कीदृग् रूपः ? किं स्वरूपः ? इति**'। "हे हे जनो ! क्यों ? देख आए हो उन सर्वज्ञ को। कहो तो ज़रा, वह सर्वज्ञ कैसा है ? उसका रूप कैसा है ? तथा उसका स्वरूप भी कैसा है ?" सर्वज्ञ प्रभु का साक्षात् अद्वितीय सुन्दर रूप और अनन्त गुण इत्यादि देखकर आये हुए लोगों ने कहा–

यदि त्रिलोकीगणनापरा स्यात् ,
तस्याः समाप्तिर्यदि नाऽऽयुषः स्यात् ।
पारेपरार्द्धं गणितं यदि स्यात् ,
गणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात् ।। १ ।।

"हे पण्डितप्रवर ! श्रीइन्द्रभूति ! उन दिव्य महापुरुष के गुणों का हम क्या वर्णन करें ? उनके गुणों का वर्णन करने में यदि तीन लोक के जीव भी एकत्र हो जायें और उनके आयुष्य की समाप्ति न हो तथा परार्ध से भी आगे का गणित हो, तो कदाचित् उन प्रभु के सभी गुणों की गणना हो सकती है; किन्तु यह अशक्य है।

इसलिये इनके गुणों को गिन नहीं सकते या कह नहीं सकते।"

लोगों के द्वारा प्रभु की इस प्रकार की गुण-महत्ता सुनकर श्रीइन्द्रभूति अत्यन्त विचार में पड़ गये। वे सोचने लगे--'खरेखर यह कोई महाधूर्त है, माया का कुल-मन्दिर है जिसके योग से इसने समस्त लोगों को विभ्रम में डाल दिया है। किन्तु जिस तरह हाथी कमल को उखाड़ दे, कुल्हाड़ा घास को काट दे और सिंह मृग को मार दे तो उसमें उसने क्या बहादुरी की? इसी तरह यह महाकपटी इन्द्रजालिया ऐसे भोले और मूर्ख लोगों के पास अपने को सर्वज्ञ तरीके ओलखा दे तो इसमें उसकी क्या बड़ाई? उसका यह मिथ्याभिमान तब तक ही है जब तक कि वह मेरे साथ शास्त्रार्थ करने के लिये वाद-विवाद में उतरा नहीं है। अब तो मैं उस सर्वज्ञ को क्षण मात्र भी सहन नहीं कर सकता। अन्धकार को दूर करने में सूर्य अंश मात्र भी विलम्ब नहीं करता। जैसे अग्नि, उसे स्पर्श करने वाले को तत्काल जलाती ही है, सिंह कभी भी ग्रीवा के बाल खींचने-लुंचने नहीं देता है तथा क्षत्रिय शत्रु से होते हुए पराभव को कदापि सहन नहीं कर सकता है, वैसे ही मैं सर्वज्ञ इस तरह सर्वज्ञपने का मिथ्या आरोप-

ग्राडम्बर करने वाले इस महाधूर्त पाखंडी को सहन नहीं कर सकता।'

'मैंने महापण्डितों की सभा में बड़े-बड़े वादियों की वाद-विवाद में बोलती बन्द की है, ऐसा मेरे ही समीप अपने घर में ही शूरवीर बना हुआ यह सर्वज्ञ कौन है ? यह मेरे आगे क्या है ? जिस अग्नि ने महापर्वतों को भी जला दिया है, उसके आगे वृक्ष क्या है ? जिस वायु-पवन ने मदोन्मत्त महाहाथियों को भी उखाड़ कर दूर फेंक दिया है, उसके लिये रुई के एक फाहे को उड़ाना कौन सी बड़ी बात है ? उसने विश्व में भले ही अपना प्रभुत्व फैला दिया, किन्तु मैं भी कम नहीं हूँ, मैंने भी बड़े-बड़े दिग्गज साक्षरों को शास्त्रार्थ में उखाड़ कर फेंक दिया है। तो इस अकिंचन की तो क्या बात जो तूल के समान है। अहो ! वादियों को जीतने के लिये आतुर ऐसे मेरे लिये तो इस विश्व में वादियों का महादुष्काल पड़ गया है। कारण कि गौड़ देश में जन्मे हुए पण्डित तो मेरे भय से डर कर दूर देश में चले गये हैं, गुर्जर (गुजरात) देश के पण्डित जर्जरीभूत होकर त्रास पा गये हैं, मालवा देश के पण्डित मर गये हैं, तिलंगदेश के पण्डित दुर्बल हो गये हैं, लाटदेश के पण्डित मुझसे डर कर कहीं भाग गये हैं तथा

द्रविड़ देश के पण्डित विचक्षण होते हुए भी लज्जा से दुःखी हो गये हैं।'

'मेरी महान् विद्वत्ता के आगे सर्व देशों के पण्डित परास्त हो गये हैं, तो भी मेरे आगे यह कौन वादी है जो 'सर्वज्ञ' रूप में अभिमान को उद्वहन कर रहा है ? पता नहीं सारे तिलों का तेल निकालते यह एक तिल कहाँ बाकी रह गया ? सर्व वादियों को मैंने जीत लिया और जगत् में विजय-पताका लहरा दी एवं वादियों का दुष्काल भी कर दिया तब फिर यह वादी किस स्थल में छिपा रह गया ? इस तरह विचारते हुए श्रीइन्द्रभूति अपने बन्धु अग्निभूति को कहने लगा कि 'हे अग्निभूति ! जैसे मूंग पकाते हुए कोई कोरडुं (मूंग का दाना) रह जाय, वैसे सर्व वादियों को जीतने पर भी कोरडु की माफिक यह वादी रह गया लगता है। कुछ भी हो, अब तो मुझे उसे वाद में परास्त करने के लिये और विजय प्राप्त करने के लिये अवश्य जाना ही पड़ेगा।'

सर्वज्ञ का पराभव करने हेतु जाने की उत्सुकता वाले वडील बन्धु श्रीइन्द्रभूति को श्रीअग्निभूति ने कहा कि-'हे सुज्ञ बन्धुवर्य ! वहाँ आपके जाने की क्या आवश्यकता है ? कीड़े के तुल्य इस वादी को जीतने के लिये आपको

प्रयास करने की आवश्यकता नहीं। क्या कमल को उखाड़ने के लिये ऐरावत हाथी की आवश्यकता पड़ती है ? नहीं। आप बैठिये, मैं अभी जाकर उस वादी को जीत कर लौटता हूँ।

श्रीइन्द्रभूति ने कहा–'हे सुज्ञ बन्धु अग्निभूति ! तुम तो क्या, मेरा एक छात्र-विद्यार्थी भी जाकर उसे जीत सकता है। परन्तु प्रवादी का नाम सुनकर मुझसे दूसरे सर्वज्ञ की उपस्थिति सहन नहीं हो रही है। उसे पराजित किये बिना अब मुझसे रहा नहीं जाता। जैसे घाणी में तिल पेलते हुए कोई तिल रह जाय, घट्टी में अनाज दलते हुए कोई कण-दाना रह जाय, क्षेत्र में घास कापते हुए कोई तरणा रह जाय तथा सर्व जलाशयों और सागरों का पान करते हुए अगस्त्यऋषि को कोई एक सरोवर भी रह जाय वैसे ही मेरे लिये भी विश्व के सर्व वादियों को जीतने पर यह वादी रह गया है। एक भी वादी यदि जीतना बाकी रह जाय तो वह समस्त वादियों को जीत चुका ऐसा नहीं कहलाता है। जैसे सती स्त्री सौ वर्ष शील का पालन करे, किन्तु एक बार भी शील का भंग करे तो वह असती ही कहलाती है। यदि यह एक भी जीतना बाकी रह जाय तो मेरा प्राप्त किया हुआ यश नष्ट हो जाय।

कारण कि शरीर में रहा हुआ छोटा भी शल्य प्राणघातक होता है, नौका में पड़ा हुआ छोटा काणा-छिद्र भी नौका-वहाण को डुबा देता है तथा मजबूत किले की एक ही ईंट खसेड़ने से सारा किला गिर सकता है। इसलिये हे अग्निभूति ! विश्व के वादियों को जीत कर प्राप्त की हुई कीर्त्ति का संरक्षण करने के लिये आज तो इस वादी को जीतने के लिये मेरा जाना ही उचित है। कुछ भी हो, मुझे जाना ही पड़ेगा।' बस, अब तो श्रीइन्द्रभूति जाने के लिये तैयार हो गये। उन्होंने अपने ललाट पर बारह तिलक किये, देह पर सुन्दर पीताम्बर तथा स्वर्ण की जनेऊ धारण की। सबसे आगे श्रीइन्द्रभूति चल रहे हैं, उनके पीछे उनके पाँच सौ छात्र-विद्यार्थी भी चल रहे हैं। उनमें से किसी के हाथ में कमण्डल है तो किसी के हाथ में दर्भ (दूर्वाघास) इत्यादि है। ये सभी विद्यार्थी अपने विद्यागुरु श्रीइन्द्रभूति की विविध प्रकार की विरुदावली बोलते हुए चल रहे हैं। कारण कि इन विद्यार्थियों के तो वे पूज्य गुरु हैं और आराध्य भी हैं। इसलिये चलते-चलते वे सानंद बोल रहे हैं कि—

(१) **'हे सरस्वतीकण्ठाभरण !'** अर्थात् आप सरस्वतीदेवी के कण्ठ के अलंकार समान हो।

(२) '**हे वादिविजयलक्ष्मीशरण** ! वादियों के साथ वाद करने से प्राप्त होती हुई ऐसी विजयलक्ष्मी के शरण-भूत हो।

(३) '**हे वादिमदगञ्जन** !' वादी के मद का विनाश करने वाले हो।

(४) '**हे वादिमुखभञ्जन** !' वादी के वदन-मुख का भंजन करने वाले हो।

(५) '**हे वादिगजसिंह** !' वादी रूपी हाथी को भगाने के लिये सिंह के समान हो।

(६) '**हे वादिसिंहअष्टापद** !' वादी रूपी सिंहों के लिये अष्टापद के समान हो।

(७) '**हे वादिविजयविशद** !' वादियों के साथ विवाद करने के लिये विशद हो अर्थात् उच्च प्रकार की बुद्धि को धारण करने वाले हो।

(८) '**हे वादिवृन्दभूमिपाल** !' वादियों के वृन्द-समूह में भूमिपाल अर्थात् भूमि को पालन करने वाले राजा-महाराजा के समान हो।

(९) '**हे वादिशिरःकाल !**' वादियों के शिर-मस्तक पर काल के जैसे हो।

(१०) '**हे वादिकदलीकृपाण !**' वादी रूपी कदली वृक्ष के लिये कृपाण-तलवार के समान हो।

(११) '**हे वादितमोभाण !**' वादी रूपी अन्धकार को दूर करने के लिये सूर्य के समान हो।

(१२) '**हे वादिगोधूमघरट्ट !**' वादी रूपी गोधूम-गेहूँ को भरड़ने में घट्टी के समान हो।

(१३) '**हे मर्दितवादिमरट्ट !**' वादी रूपी मरट्ट का मर्दन करने वाले हो।

(१४) '**हे वादिघटमुद्गर !**' वादी रूपी घट को फोड़ने के लिये मुद्गर के समान हो।

(१५) '**हे वादिघूकभास्कर !**' वादी रूपी घूक-उल्लू को अन्धा करने के लिये सूर्य के सदृश हो।

(१६) '**हे वादिसमुद्रागस्त्य !**' वादी रूपी समुद्र का पान करने के लिये अगस्त्य ऋषि के तुल्य हो।

(१७) '**हे वादितरून्मूलनहस्तिन् !**' वादी रूपी वृक्ष का उन्मूलन करने के लिये हाथी के समान हो।

(१८) 'हे **वादिसुरसुरेन्द्र** !' वादी रूपी सुरों के लिये सुरेन्द्र के समान हो।

(१९) 'हे **वादिगरुडगोविन्द** !' वादी रूपी गरुड़ के लिये गोविन्द-कृष्ण के समान हो।

(२०) 'हे **वादिजनराजान** !' वादी रूप जन-लोक के लिये नृप-राजा के समान हो।

(२१) 'हे **वादिकंसकहान** !' वादी रूपी कंस के लिये कृष्ण के तुल्य हो।

(२२) 'हे **वादिहरिणहरे** !' वादी रूपी हरिण के लिये सिंह के समान हो।

(२३) 'हे **वादिज्वरधन्वंतरे** !' वादी रूपी ज्वर के लिये धन्वंतरि वैद्य के तुल्य हो।

(२४) 'हे **वादियूथमल्ल** !' वादी के यूथों के लिये मल्ल के समान हो।

(२५) 'हे **वादिहृदयशल्य** !' वादियों के हृदय के लिये शल्य के समान हो।

(२६) 'हे **वादिगणजीपक** !' वादिसमूह को जीपक के समान हो।

(२७) '**हे वादिशलभदीपक** !' वादी रूपी शलभ-पतंगे के लिये दीपक के समान हो।

(२८) '**हे वादिचक्रचूडामणे** !' वादिचक्र के चूड़ामणि हो।

(२९) '**हे पण्डितशिरोमणे** !' पण्डितों में शिरोमणि हो।

(३०) '**हे विजेताऽनेकवाद** !' अनेक वादों के विजेता हो।

(३१) '**हे सरस्वतीलब्धप्रसाद** !' सरस्वती के लब्धप्रसाद हो।

इत्यादि विविध विरुदों के समुदाय से दिशाओं के चक्र को जिन्होंने गुंजा दिया है—शब्दमय बना दिया है; ऐसे अपने पाँच सौ छात्र-विद्यार्थियों के परिवार से घिरे हुए श्रीइन्द्रभूति सर्वज्ञ विभु श्री महावीर स्वामी को जीतने के लिये उनके पास जाते-जाते अभिमान के शिखर पर चढ़े-चढ़े चिन्तवने-विचारने लगे—

"अरे ! इस दुष्ट ने सर्वज्ञपने का आडम्बर करके मुझे छंछेड़ा है, अति कोपायमान किया है। जैसे मण्डूक-

देड़का सर्प को लात-चपेटा मारने के लिये उद्यमवंत बने, मूषक-उन्दर अपने दाँतों से बिल्ली की दाढ़ी को पाड़ने के लिये उत्साहित बने, वृषभ अपने सींगों से ऐरावत हाथी पर शीघ्र प्रहार करने की चेष्टा करे, हाथी अपने दो दन्तुशल द्वारा वेगपूर्वक पर्वत को भेदने का प्रयत्न करे और शशक केसरीसिंह के स्कन्ध की केसरा को खींचने की तीव्र इच्छा करे, वैसे ही इसने किया है। सभी जैसे अपने विनाश को निमंत्रण देते हैं, वैसे ही इसने भी किया है। मेरे देखते हुए भी उन लोगों के आगे अपना सर्वज्ञपना प्रसिद्ध करता है। अहो! उसने तो शेषनाग के सिर पर रहे हुए मणि को लेने के लिये अपना हाथ पसारने जैसा काम किया है, वायु के सामने खड़े रहकर अग्नि को सुलगाने जैसा काम किया है तथा सुख की इच्छा से अपने शरीर पर दुःख उत्पन्न करने वाले कवच को आलिंगन करने जैसा काम किया है। इससे क्या? अभी मैं शीघ्र उसके पास जाकर वाद में उसको निरुत्तर कर दूंगा।

"आकाश में जब तक सूर्य उदयवंत नहीं होता है तभी तक खद्योत-जुगनू चलकाट करता है और चन्द्रमा भी प्रकाश फैलाता है; लेकिन जब सूर्य आकाश में उदित

होता है तो तत्काल 'न खद्योतो न चन्द्रमाः' अर्थात् ये तेजी रहित बन जाते हैं। वन में मदोन्मत्त हाथी आदि भी तभी तक फिरते हैं और गर्जना करते हैं जब तक वनराज केसरीसिंह की गर्जना नहीं सुनते। गर्जना सुनने के साथ ही सब वहाँ से पलायन कर जाते हैं। अब मैं केसरीसिंह जैसा आ रहा हूँ। तुम मदोन्मत्त हाथी जैसे हो तो भी भाग जाओगे। नहीं तो तुम्हारी खबर मैं लूंगा और वाद में पराजित कर दूंगा।"

इस तरह श्रीइन्द्रभूति की यह विचारणा उनके पाण्डित्य की आभारी है। उन्हें इतनी खुमारी है कि बहुत समय से मेरे सामने शास्त्रार्थ कर सके ऐसा कोई पण्डित मिला नहीं है। आज मेरा भी सद्भाग्य है कि सर्वज्ञ तरीके ख्याति धराने वाला व्यक्ति आज मेरे सम्मुख समीप आया है। जैसे भूखे को भोजन मिले वैसे मुझे भी यह वादी मिलने से अतीव आनंद हो रहा है। अब आज उससे वाद करके बहुत समय की मेरी जीभ की खरज को दूर करूंगा। कारण कि मैं सर्व शास्त्रों में पारंगत हूँ। लक्षणशास्त्र में तो मेरा दक्षपना सर्वोत्तम है, साहित्य में मेरी मति अस्खलित है और तर्कशास्त्र में तो मेरी कर्कशता-निपुणता अत्यन्त ही उत्तम है। विश्व में ऐसा

कौन सा शास्त्र है जिसमें मैंने परिश्रम न किया हो। हे वादी ! तुझे मैं सर्व शास्त्र में परास्त कर सकता हूँ।"

"फिर श्री इन्द्रभूति अपने हृदय में निर्धार-निश्चय करता है कि जैसे यम को कभी मालवा दूर नहीं है, समर्थ विद्वान् के लिये किसी प्रकार की भी रस की पुष्टि न कर सकना, ऐसा नहीं है, चक्रवर्ती के लिये छह खण्ड न जीत सके, ऐसा नहीं है, वज्र के लिये कुछ भी अभेद्य नहीं है, कल्पवृक्ष के लिये लौकिक कुछ भी अदेय नहीं है, महान् आत्माओं के लिये कुछ भी असाध्य नहीं है, क्षुधित-भूखे के लिये कोई अखाद्य नहीं है तथा दुर्जनों के लिये कुछ भी अवाच्य नहीं है, वैसे मेरे लिये भी विश्व में कोई वादी अजेय नहीं है।"

इस तरह अभिमान-अहंकार की तरंगों में निमग्न बने हुए श्री इन्द्रभूति अपने पाँच सौ शिष्यों के परिवार सहित चलते-चलते सर्वज्ञ विभु श्री महावीर परमात्मा के दिव्य समवसरण के समीप पहुँच गये।

वहाँ पर दिव्य समवसरण को देखते ही अति विस्मयवन्त बने श्री इन्द्रभूति समवसरण की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। ३४ अतिशयों से सुशोभित और स्वर्ण के सिंहासन

पर बैठे हुए, सुरेन्द्रों से पूजित तथा अमृतमय वाणी द्वारा धर्मदेशना देते हुए ऐसे विश्वपूज्य सर्वज्ञ श्री महावीर स्वामी भगवान के तेजस्वी और भव्य मुखारविन्द को देख कर श्री इन्द्रभूति दंग रह गये और सोपान पर ही खड़े रहकर विचारने लगे कि ये कौन होंगे ? (पहचानने का प्रयत्न करते हैं।) 'अहो ! **किं ब्रह्मा ?, किं विष्णुः, सदाशिवः शङ्करः किं वा ?'** अहो ! क्या ये ब्रह्मा हैं ? क्या ये विष्णु हैं ? या क्या ये सदाशिव शंकर हैं। इसका समर्थन निम्नलिखित श्लोक में इस प्रकार है–

चन्द्रः किं ? स न यत् कलङ्ककलितः सूर्योऽपि न तीव्ररुक्,
मेरुः किं न स यन् नितान्तकठिनो विष्णुः न यत् सोऽसितः।
ब्रह्मा किं ? न जरातुरः स च जराभीरुर्न यत् सोऽतनु-
र्ज्ञातं दोषविवर्जिताऽखिलगुणाऽऽकीर्णोऽन्तिमस्तीर्थकृत् ।।१।।

उक्त श्लोक में जो विशिष्ट नाम कहे हैं, उन पर श्री इन्द्रभूति विचार कर रहे हैं–

(१) **क्या ये चन्द्र हैं ?** नहीं। चन्द्र तो कलंक युक्त अर्थात् कलंकित है और ये तो निष्कलंक-कलंकरहित सौम्य कान्तिमय हैं। इसलिये ये चन्द्र नहीं हैं।

(२) **क्या ये सूर्य हैं ?** नहीं। सूर्य तो सामने

भी न देख सके ऐसा तीव्ररुक् यानी तीव्र कान्ति वाला होता है और ये तो सौम्य कान्ति वाले हैं, इनको सुखपूर्वक देख सकते हैं। अर्थात् सूर्य तो देखने वाले को तीव्र ताप से तप्त कर देता है और इन्हें तो जैसे देखते हैं वैसे अधिक शीतलता का अनुभव होता है। इसलिये ये सूर्य भी नहीं हैं।

(३) **क्या ये मेरु हैं ?** नहीं। मेरु तो अत्यन्त कठिन है और ये अति सुकोमल हैं। अर्थात् इनका देह-शरीर तो मक्खन के समान कोमल एवं सुकुमार है। इसलिये ये मेरु भी नहीं हैं।

(४) **क्या ये विष्णु हैं ?** नहीं। विष्णु तो श्याम-काले वर्ण वाला है और ये तो सुवर्णवर्णा हैं। अर्थात् सुवर्ण जैसा देदीप्यमान वर्ण है इनका, इसलिये ये विष्णु भी नहीं।

(५) **क्या ये ब्रह्मा हैं ?** नहीं। ब्रह्मा तो वृद्ध हैं और ये तो युवा-युवान हैं। इसलिये ये ब्रह्मा भी नहीं।

(६) **क्या ये शंकर हैं ?** नहीं। महेश-शंकर तो शरीर पर राख रखते हैं और हाथ तथा गले में सर्प रखते

हैं; किन्तु इन पर तो ऐसी एक भी वस्तु देखने में आती नहीं है। इसलिये ये महेश-शंकर भी नहीं।

(७) **क्या ये कामदेव हैं ?** नहीं। जराभीरु कामदेव तो शरीर रहित है और ये तो शरीरधारी हैं। इसलिये ये कामदेव भी नहीं। अब ये भी नहीं—ये भी नहीं—ये भी नहीं तो फिर ये कौन हैं ?

ऐसे गहराई से विचारते हुए श्री इन्द्रभूति को याद आया कि मैंने भी शास्त्रों में एक बात पढ़ी है कि **"सर्व दोषों से रहित और सर्व गुणों से सहित एक अन्तिम तीर्थंकर होने वाला है। जैनों के चौबीस तीर्थंकरों में यही चौबीसवें तीर्थंकर होने चाहिये।"** अब तो श्री इन्द्रभूति को अपने अन्तःकरण में पक्का निर्णय और विश्वास हो गया कि चौबीसवें तीर्थंकर यही हैं, दूसरे नहीं।

सर्वज्ञ ऐसे प्रभु महावीर को देखने से श्री इन्द्रभूति को आह्लाद तो अवश्य हुआ, लेकिन अभी तक मिथ्यात्व में फँसे हुए होने से प्रभु के सामने होते हुए भी उन्होंने इनकी शरण स्वीकार नहीं की। वे अति चिन्ता में पड़ गये। पश्चाताप कर रहे हैं कि "अरे ! मैं यहाँ कहाँ आ फँसा ? अरे रे ! अद्यावधि विश्व के वादियों को जीत कर सर्वत्र

विजयपताका फहराई और महान् यश प्राप्त किया। अब उसका संरक्षण किस तरह से करना? यह एक वादी न जीता गया होता तो मेरा क्या बिगड़ने वाला था? यह तो मेरी ही मूर्खता है कि मैंने एक कील के लिए अपनी कीर्त्ति रूपी पूर्ण महल-प्रासाद को तोड़ने का यत्न किया। अहो! मैंने बिना सोचे साहस किया। अरे! मेरी दुर्बुद्धि कैसी कि ऐसे सर्वज्ञ जगदीश को जीतने के लिए आया। मैं ऐसे तेजस्वी महाज्ञानी के आगे किस रीति से बोल सकूंगा। अरे! बोलना तो दूर रहा, किन्तु इनके पास में भी कैसे जा सकूंगा? प्रार्थना करता हूँ कि **'संकटे पतितोऽस्मीति, शिवो रक्षतु मे यशः।'** अर्थात् मैं पूर्ण रूप से संकट में पड़ गया हूँ, हे शिव! अब तो आप ही मेरे यश का रक्षण करें। अर्थात् मेरी कीर्त्ति की रक्षा करें। फिर भी सोचते हैं कि कदाचित् भाग्योदय से मेरे सम्पूर्ण शास्त्र-ज्ञान द्वारा वाद में यदि मेरी जीत हो जाय, अर्थात् इन एक को मैं जीत लूँ तब तो तीन लोक में पण्डितशिरोमणि कहलाऊँ और मेरी कीर्त्ति तीनों लोकों में प्रसारित हो जाय। फिर तो मेरा महत्त्व और मेरा स्थान वर्णनातीत हो जाय।" इत्यादि चिन्तवते हुए श्री इन्द्रभूति अपनी विचारधारा में मग्न हैं। इतने में सर्वज्ञ विभु श्री वर्द्धमान स्वामी ने उनके नाम और गोत्र

के उच्चारणपूर्वक अमृत जैसी मधुर वाणी में उन्हें सम्बोधित किया–

'हे गौतमेन्द्रभूते ! त्वं, सुखेनागलवानसि' हे गौतम–गोत्रीय इन्द्रभूते ! तुम सुखपूर्वक तो आये हो ?

ऐसा प्रश्न सुनकर प्रथम तो श्री इन्द्रभूति को आश्चर्य हुआ; वह विचारने लगा कि 'अहो ! मेरा नाम तक ये जानते हैं। क्यों न जाने ? विश्व में क्या तीनों लोकों में आबालवृद्ध मेरे सुप्रसिद्ध नाम को कौन नहीं जानता ? मेरे नाम को सब लोग जानते हैं। इसलिये ये मुझे नाम से पुकारें, इसमें कोई आश्चर्य जैसी बात नहीं है। आकाश में रहा हुआ सूर्य क्या आ-बालगोपाल जन से छिपा है ? नहीं। ये मेरे नाम को और मेरे गोत्र को जान लें, इसमें कोई विशेषता नहीं। लेकिन मेरे मन में रहे हुए गुप्त संदेह-संशय को प्रकाशित करें तो मैं इन्हें सच्चा सर्वज्ञ मानूँ; अन्यथा नहीं।'

श्रमण भगवान श्री वर्द्धमान स्वामी-महावीर परमात्मा तो सर्वज्ञ-अनंतज्ञानी हैं। उनसे यह संदेह कहाँ छिपा है ? तत्काल सर्वज्ञ विभु कहते हैं कि 'हे इन्द्रभूति गौतम ! तेरे हृदय में जीव-आत्मा के अस्तित्व के विषय में

संदेह है कि "**विश्व में जीव-आत्मा है कि नहीं ?**" तथा तुझे यह संदेह वेदपद के अर्थ की बराबर जानकारी नहीं होने के कारण हुआ है। तूने वेद के पदों का अर्थ अन्य प्रकार से जाना है। अब सुनो।' इस प्रकार कह कर उसी समय मन्थन कराते समुद्र के घुघवाट सदृश, पूर्ण वेग में बहती गंगा के पूर सदृश तथा ब्रह्मा की आदि ध्वनि सदृश अत्यन्त धीर और गम्भीर ध्वनि-स्वर से सर्वज्ञ विभु श्री महावीर देव ने वेद की श्रुतियों का अर्थात् वेदपदों का उच्चारण किया। "**विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्यसंज्ञास्ति**" इति। हे इन्द्रभूति ! तुमने वेदवाक्यों का अर्थ इस प्रकार समझा है–'**विज्ञान-घन**'–गमनागमनादिचेष्टावान् आत्मा, 'एतेभ्यो भूतेभ्य एव' =पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-आकाश इन पंचभूत में से ही, '**समुत्थाय**'=उत्पन्न होकर, '**तान्येवानुविनश्यति**'–फिर उन्हीं में नष्ट हो जाता है। इन भूतों के बिखरने के साथ ही वह आत्मा-चेतना भी नष्ट हो जाती है। इससे '**न प्रेत्यसंज्ञास्ति**' परलोक की संज्ञा नहीं होती-पुनर्जन्म नहीं होता। अन्यत्र जाना होता नहीं। अर्थात् देहरूप में परिणत हुए इन पृथिव्यादि पाँच भूतों में से 'यह देव है, यह मनुष्य है, यह तिर्यंच है,' इत्यादि विविध प्रकार के ज्ञान का समुदाय ही उत्पन्न होता है; किन्तु ज्ञान का

आधारभूत आत्मा नहीं। क्योंकि पाँच भूतों में से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे ज्ञान का आधार पाँच भूत मानना चाहिये। जैसे मदिरा के अंग में से मदशक्ति उत्पन्न होती है, वैसे देह रूप में परिणत पाँच भूतों में से विज्ञान-शक्ति उत्पन्न होती है। पीछे जब उन देह रूप पाँच भूतों का विनाश होता है तब विज्ञान समुदाय का भी उन्हीं में विलय होता है। जैसे जल के बुलबुले जल में नष्ट हो जाते हैं वैसे इधर भी पंच भूतों में से उत्पन्न हुई विज्ञान-शक्ति भी इन्हीं में लय हो जाती है। इससे यह संदेह होता है कि फिर परलोक की प्राप्ति नहीं होती, उसका पुनर्जन्म भी नहीं होता।

परलोक नहीं अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होने से आत्मा जैसा कोई पदार्थ होता ही नहीं है। हे इन्द्रभूति ! फिर तू मानता है कि उक्त वेदवाक्य का अर्थ युक्ति से भी ठीक लगता है। कारण कि प्रत्यक्षादि प्रमाण से भी आत्मा दिखाई नहीं देती तथा स्पर्शादि अनुभव से भी जानने में नहीं आती।

जीव-आत्मा नहीं है। इसकी सिद्धि जग में 'जीव-आत्मा नहीं है' इनके मिलते हुए अनेक निम्नलिखित

प्रमाण बता रहे हैं—कारण कि प्रमाण विना '**जीव-आत्मा असिद्ध है।**'

प्रमाण अनेक हैं। जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव तथा आगम इत्यादि। इन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जीव आत्मा की सिद्धि नहीं होती है।

(१) **प्रत्यक्ष प्रमाण**—इस प्रमाण से जीव-आत्मा की सिद्धि नहीं होती। कारण कि वस्तु को प्रत्यक्ष करने के लिए स्पर्शेन्द्रियादि पाँच इन्द्रियाँ हैं। इनमें से एक भी इन्द्रिय जीव-आत्मा का अनुभव नहीं कर सकती है। जैसे आत्मा घट-पटादिक की भाँति दृष्टिगम्य नहीं है, वैसे ही आत्मा देखी या जानी नहीं जा सकती।

इस सम्बन्ध में प्रश्न यह है कि जब जीव प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता तो फिर इसको कैसे मानें? यद्यपि परमाणु अप्रत्यक्ष है फिर भी इनके कार्य घटादि के रूप में प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं; किन्तु जीव तो किसी कार्य रूप में भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसलिये इसका अस्तित्व कैसे हो सकता है?

(२) **अनुमान प्रमाण**—इस प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि नहीं होती। अर्थात् आत्मा का ज्ञान नहीं होता।

कारण कि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक प्रवर्त्तता है। अनुमान तीन प्रकार का है–(१) कारण-कार्य अनुमान, (२) कार्य-कारण अनुमान तथा (३) सामान्यतो दृष्ट अनुमान। इन तीनों में से एक भी अनुमान आत्मा की सिद्धि के सम्बन्ध में नहीं मिलता। क्योंकि आत्मा का कोई कारण नहीं दीखता, कोई कार्य नहीं दीखता या कोई साथी नहीं दीखता, जिसके द्वारा आत्मा का अनुमान किया जाये। जैसे–

(१) आकाश में विद्यमान घनघोर काले बादल वर्षा के सूचक होते हैं। इनसे कृषक वर्षा रूपी कार्य का अनुमान करते हैं। वैसे इधर आत्मा का कोई कारण नहीं दिखाई देता है।

(२) जैसे कार्य रूपी धुआँ देख कर कारण रूपी अग्नि का अनुमान होता है वैसा इधर आत्मा में नहीं।

(३) जहाँ पर दो वस्तुएँ एक-दूसरे की कार्य-कारण नहीं होने पर भी एक-दूसरे में व्याप्त होती हैं, वहाँ पर एक वस्तु देखकर दूसरी वस्तु का अनुमान हो सकता है। जंगल में जैसे सिंह की गर्जना से गुफा का अनुमान होता है, वैसे इधर आत्मा के विषय में नहीं देखा जाता है।

इस कथन का सारांश यह है कि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक प्रवर्तता है। जिस मनुष्य ने पूर्व में महानस-रसोड़ा आदि स्थल में धुआँ और अग्नि का सम्बन्ध प्रत्यक्ष देखा हो वह मनुष्य पर्वत पर निकलते हुए धुएँ को देखकर पूर्व में प्रत्यक्ष द्वारा जाने हुए धुएँ और अग्नि के सम्बन्ध का स्मरण करता है कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ पर वह्नि होती है। अग्नि पूर्व में भी देखी थी। इस पर्वत पर धुआँ है, इसलिये वह्नि-अग्नि होनी चाहिये। इस तरह प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान होता है। किन्तु इधर आत्मा के साथ तो किसी का भी सम्बन्ध प्रत्यक्ष से नहीं दिखाई देता। इसलिये अनुमान प्रमाण से जीव-आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती।

(३) **उपमान प्रमाण**—इस प्रमाण से भी जीव-आत्मा की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि आत्मा के सम्बन्ध में ऐसी किसी ज्ञात वस्तु की उपमा नहीं घट सकती। उपमान समीप के पदार्थ में सादृश्य बुद्धि उत्पन्न करता है। जैसे जंगल में गये हुए मनुष्य को वहाँ पर रोझ नाम के जंगली पशु को देखकर यह सादृश्य बुद्धि होती है कि जैसी गाय होती है वैसा ही यह पशु है। आत्मा में नहीं होने से यह उपमान प्रमाण आत्मसिद्धि के लिये अनुपयुक्त होता है।

(४) **अर्थापत्ति प्रमाण**—इससे भी जीव-आत्मा की सिद्धि नहीं होती है। कारण कि—अर्थापत्ति में कोई देखी हुई या सुनी हुई वस्तु अमुक वस्तु के बिना न घट सके ऐसी होती है, तब इस वस्तु के आधार पर वह वस्तु सिद्ध हो सकती है। जैसे—देह से हृष्ट-पुष्ट ऐसे देवदत्त को देखकर किसी ने कहा कि यह भाई दिन में बिलकुल खाता ही नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि रात को यह अवश्य खाता होगा। इस रूप में जीव-आत्मा की सिद्धि करने के लिये कोई वस्तु ऐसी नहीं दिखाई देती है।

(५) **सम्भव प्रमाण**—इससे भी जीव-आत्मा की सिद्धि नहीं होती है। जो एक वस्तु में दूसरी वस्तु आने पर उसकी सिद्धि करे वह **सम्भव प्रमाण** कहा जाता है। जैसे—वयोवृद्ध पुरुष ने युवावस्था देखी ही है ऐसा कहा जाता है। कारण कि इतनी दीर्घ-लम्बी आयु में युवावस्था की आयु समा जाती है; किन्तु जीव-आत्मा किसमें समा जाता है जिससे यह कह सकें कि यह वस्तु है। आत्मा तो अवश्य ही है, ऐसी एक भी वस्तु नहीं है। इसलिए जीव-आत्मा की सिद्धि नहीं होती।

(६) **ऐतिह्य (ऐतिहासिक) प्रमाण**—इससे भी जीव-

आत्मा की सिद्धि नहीं होती है। कारण कि ऐतिहासिक प्रमाणों में दन्तकथादिक आती हैं। जैसे--कोई जीर्ण-शीर्ण मकान है। उसमें कई वर्षों से भूतादिक का निवास है, इस तरह परम्परा से लोग जानते हुए चले आ रहे हैं। यह कहावत ऐतिहासिक प्रमाण से वंश परम्परा तक चलती हुई आती है। किन्तु जीव-आत्मा के सम्बन्ध में ऐसी कोई कहावत-बात प्रचलित नहीं है जिससे कि जीव-आत्मा का निवास होने की बात आज भी मिलती हो।

(७) **आगम प्रमाण**--इससे भी जीव-आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि आत्मा के सम्बन्ध में इसकी पुष्टि में शास्त्र-प्रमाण मिलते हैं। किन्तु वे आत्मा के सम्बन्ध में अनेकानेक परस्पर विरोधी बातें करते हैं। जैसे--कोई शास्त्र कहता है कि **'आत्मा है'** और कोई कहता है कि **'आत्मा नहीं है।'** इस तरह परस्पर विरुद्ध कहते हुए शास्त्रों में कौन-सा शास्त्र सच्चा और कौन-सा झूठा मानना? कोई कहता है कि **'आत्मा एक ही है'**, तो कोई कहता है कि **'आत्मा एक नहीं अनंत हैं।'** फिर कोई आत्मा को क्षणिक मानता है तो कोई नित्य ही मानता है। इसलिये ऐसी परिस्थिति में कौन सा शास्त्र

मानें और किस प्रकार आत्मा की सिद्धि हो सके ?

फिर कहते हैं कि घी, दूध इत्यादि उत्तम पदार्थों के वापरने से शरीर पुष्ट हुआ तो उसमें से सतेज ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा अनुभव होता है। इसलिये मानना चाहिये कि शरीर रूप में परिणाम पाये हुए पाँच भूतों में से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान यह पांच भूतों का धर्म है, आत्मा का नहीं। इसलिये आत्मा नाम का पदार्थ नहीं है। इस तरह किसी भी प्रमाण से जीव-आत्मा नाम का पदार्थ नहीं है। ऐसा हे इन्द्रभूति ! तू मान रहा है। यह तेरा भ्रम है। वेदोक्त इस श्रुति में 'विज्ञान-घन०' आदि पदों का जो तुमने अथ किया है वह अर्थ अयुक्त है।"

अब इस वेदश्रुति का सच्चा अर्थ श्री इन्द्रभूति को सर्वज्ञ विभु श्री महावीर परमात्मा नीचे प्रमाणे बता रहे हैं—

❀ 'जीव-आत्मा है' इसकी सिद्धि ❀

"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति" इति।

'विज्ञानघन०' इस पद में स्थित **'विज्ञान'** शब्द को

ज्ञान-दर्शन के उपयोग स्वरूप समझना चाहिये तथा आत्मा उपयोगमय होने से 'विज्ञानघन' शब्द से उसे ज्ञान-दर्शन के उपयोग स्वरूप वाला जानना चाहिये। कारण कि आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं। असंख्यात प्रदेशी आत्मा असंख्याते असंख्यात प्रदेश ज्ञान का अनन्त पर्याय वाला है। ऐसे ज्ञान-दर्शन के उपयोग स्वरूपवन्त आत्मा में अपने विषय स्वरूप में रहे हुए पृथिव्यादि पाँचों भूतों द्वारा अथवा पाँच भूतों से बने हुए घट-पटादि पदार्थों द्वारा घट-पटादिक का ज्ञानोपयोग उत्पन्न होता है। इस घट-पटादिक के ज्ञान से परिणत आत्मा इस अपेक्षा से विषय स्वरूप में हेतुभूत बने हुए घट-पटादिक से पैदा हुआ कहा जाता है। कारण कि घट-पटादिक ज्ञान का परिणाम घट-पटादि पदार्थों की अपेक्षावन्त ही होता है। इसलिये तद्-तद् उपयोग स्वरूप आत्मा उत्पन्न हुआ, ऐसा अवश्य ही कह सकते हैं। इस तरह प्रत्यक्ष स्वरूप में रहे हुए पृथिव्यादि भूतों से अथवा इनसे बनी हुई घट-पटादि वस्तुओं से, तद्-तद् वस्तुओं के उपयोग स्वरूप में आत्मा उत्पन्न हो करके, जब उन वस्तुओं का विनाश हो जाय या वे अपनी दृष्टि से बाहर निकल जायें तब, तद्-तद् विषयों का उपयोगवन्त आत्मा भी विनाश पामता है और अन्य उपयोग स्वरूप आत्मा उत्पन्न होता है। इतना

होने पर भी वहाँ पर सामान्य स्वरूप में आत्मा का अस्तित्व कायम ही रहता है।

आत्मा ज्ञानोपयोगी और दर्शनोपयोगी है। वह विज्ञानघन रूप है। कोई भी आत्मा ज्ञान और दर्शन के उपयोग से रहित नहीं है। **विश्व में यही आत्मा अखण्ड वस्तु-पदार्थ है और असंख्यात प्रदेशवन्त भी है।** वह **स्कन्ध** कहलाता है। उसका अमुक भाग **देश** कहलाता है तथा जिसके एक से दो विभाग की कल्पना नहीं होती है, ऐसे छोटे-में-छोटे भाग को प्रदेश कहते हैं।

आत्मा से पुदगल द्रव्य पृथक् हो सकता है। पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु इस तरह चार भेद पड़ते हैं। लेकिन आत्मा के तो स्कन्ध, देश और प्रदेश ये तीन ही भेद पड़ते हैं। आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में प्रत्येक प्रदेश पर ज्ञान और दर्शन के अनंता पर्याय रहे हैं। आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में से एक भी प्रदेश ज्ञान और दर्शन के उपयोग से रहित नहीं है। सर्वज्ञ की आत्मा निर्मल आरसी-दर्पण जैसी है। उसमें तीनों लोकों के और तीनों कालों के सर्व पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़ता है। वे सभी को उपयोग मूक्या बिना तद्-तद् स्वरूप में सम्पूर्ण रूप से जानते ही हैं। अन्य अज्ञानी

को या अल्पज्ञानी को तो सर्व वस्तुएँ स्मरण में लानी पड़ती हैं। अज्ञानी को तो उसके सामने जो वस्तुएँ आती हैं वे दिखती हैं, लेकिन पूर्ण रूप से नहीं। दिखे या न दिखे, ऐसा भी होता है।

'घट' ऐसा ज्ञान का उपयोग कब होता है? आत्मा जब घट को देखकर घटमय बन जाता है तब। जब घट के स्थान में पट आ जाता है तब घट ज्ञान का उपयोग वाला आत्मा पट ज्ञान के उपयोग वाला हो जाता है। जब इसके स्थान पर और कोई तीसरी वस्तु रखो तो वही आत्मा उस वस्तु के उपयोग वाला होता है।

ज्ञान-दर्शन उपयोग रूप विशिष्ट ज्ञानमय आत्मा भूतों के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर भूत शब्द का अर्थ पाँच भूत ही नहीं किन्तु **'प्रमेय'** अर्थ भी है। अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश मात्र ही नहीं किन्तु जड़-चेतन समस्त ज्ञेयपदार्थ भूत शब्द से हैं। इस रूप से आत्मा नित्य होने पर भी किसी पदार्थ के उपयोग के लिये हो तो उसे विशिष्ट ज्ञान-सम्पन्न कहा जाता है। उस विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न आत्मा का जो उपयोग पंचभूत-मय पदार्थ के ज्ञान में से उत्पन्न हुआ है, वह पंचभूतमय पदार्थ के विनाश के पश्चात् विनष्ट होता है। अर्थात्

उसका उपयोग नहीं रहता है। नये पदार्थ का फिर ज्ञान होता है तब पुनः नये उपयोग रूप में वह ज्ञान उत्पन्न होता है।

आत्मा का प्रत्येक प्रदेश ज्ञान-दर्शन के उपयोग रूप अनंत पर्यायों से युक्त है। वस्तु मात्र में तीन धर्म हैं। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य। प्रस्तुत आत्मा के तीन स्वभाव हैं। पर्याय रूप में वह उत्पत्ति और विनाश रूप है, किन्तु द्रव्य के रूप में नित्य है। उदाहरणार्थ–यथा घट ज्ञान में जैसे पंचभूतात्मक है, अतः आत्मा में यह 'घट' है ऐसा प्रयोगात्मक ज्ञान अर्थात् पर्याय उत्पन्न होता है और जब घट का विनाश होता है या घट दूर चला जाता है, तब उसमें से उत्पन्न जो ज्ञान है पर्याय है, उसका भी विनाश होता है। **'न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति'**–पूर्व के घटादि उपयोग रूप संज्ञा नहीं रहती।

आत्मा के तीन स्वभाव हैं। (१) प्रथम स्वभाव–जिस पदार्थ का विज्ञान प्रवर्त्तता हो उस विज्ञान पर्याय रूप में आत्मा उत्पन्न होता है, तद् समय ही पूर्व पदार्थ के विज्ञान पर्याय नष्ट हो जाने से पूर्व के विज्ञान पर्याय रूप में आत्मा विनश्वर रूप है और अनादिकाल से चली आ रही विज्ञान सन्तति द्वारा द्रव्यपने आत्मा अविनश्वर रूप

है। इस तरह पर्याय स्वरूप में आत्मा उत्पत्ति और विनाश रूप है तथा द्रव्य रूप में नित्य है।

"न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति"—इसका अर्थ यह हुआ कि घट का विनाश होने के पश्चात् घड़े सम्बन्धी आत्मा का ज्ञान पर्याय नष्ट होता है, ज्ञान यह आत्मा का पर्याय है, किन्तु उससे यह समझना कि आत्मा नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, जबकि **"अग्निहोत्रं जुहूयात् स्वर्गकामः"** इस वेद-वाक्य में यह कहा गया है कि स्वर्ग की इच्छा करने वाले जीव को अग्निहोत्र करना चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है कि यह आत्मा इस लोक को छोड़कर अर्थात् देह का त्याग कर परलोक गमन करती है।

अपर च—

(१) **"स वै अयं आत्मा ज्ञानमयः।"**

(२) "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्यं ज्योतिर्मयो हि शुद्धोऽयं पश्यन्ति धीराः यतयः संयतात्मानः।"

(३) "द, द, द" कोऽर्थः ? दमो दानं दया इति दकारत्रयं यो वेत्ति स जीवः।

इन वेदपदों से आत्मा को अस्तिता-नित्यता सिद्ध

होती है। क्योंकि 'यह आत्मा ज्ञानमय है, ब्रह्मचर्य तथा तप से ज्योतिर्मय है, यति धीर संयतात्मा इसे साक्षात् कर सकते हैं।' तो यह तेरे लिये भ्रम का कारण हो सकता है। किन्तु वेद का पदार्थ इससे भिन्न नहीं है। अतः परस्पर विरुद्धता तेरे भ्रम का कारण है।

※ प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा की सिद्धि ※

जो वस्तु संसार में दृश्यमान नहीं है उसकी संशय-शीलता ही नहीं होती। आत्मा के सम्बन्ध में तुझे स्वयं को संदेह-संशय हुआ है, अतः आत्मा प्रत्यक्ष है। संशयात्मकता का अभाव नहीं होता, क्योंकि जब सत्ता है तब ही संदेह-संशय होता है। कहीं-न-कहीं उस वस्तु की सत्ता होती है।

(१) जो सर्वज्ञ हैं वे आत्मा को प्रत्यक्ष देखते हैं। जैसे किसी व्यक्ति क आंतरिक संदेह-संशय इन्हें प्रत्यक्ष होते हैं, तथा समय पर व्यक्त किये जाते हैं और वे मान्य होते हैं; वैसे इन्हें प्रत्यक्ष होने वाली आत्मा भी अवश्य मान्य होनी चाहिये।

(२) जिस प्रकार संदेह-संशय-शंका-विकल्प ज्ञान का एक प्रकार है, उसी प्रकार स्मृति, इच्छा, तर्क, जिज्ञासा

बोध इत्यादि भी ज्ञान के प्रकार प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। तथा उसका आधारभूत गुणी आत्मा भी प्रत्यक्ष ही मानना चाहिये। ज्ञान आत्मा का सहभावी गुण है। इसलिये जहाँ ज्ञान हो वहाँ आत्मा अवश्य होता ही है।

(३) सुख, दुःख, हर्ष, शोक, स्मरण इत्यादि आत्मा की सत्ता को सिद्ध करते हैं। इसलिये मृतदेह को सुख, दुःख, हर्ष, शोक, स्मरण इत्यादि नहीं होता है। कारण कि देह की हलनचलनादि क्रियाओं का प्रेरक भी आत्मा ही है। आत्मा बिना मृतक कुछ भी क्रिया नहीं कर सकता।

(४) मैं हूँ, मैं था, मैं होऊंगा, अथवा मैं करता हूँ, मैंने किया, मैं करूंगा इत्यादिक त्रैकालिक अनुभव में 'मैं' का अनुभव जो होता है, वह आत्मा का ही प्रत्यक्ष अनुभव है। कारण कि तीनों ही कालों में आत्मा तदवस्थ ही है। यह प्रतीति भी आत्मा की सत्यता सिद्ध करती है।

(५) चैतन्य आत्मा का ही धर्म है, देह का नहीं।

घी, दूध इत्यादि उत्तम पदार्थों को वापरने से पुष्ट बने हुए शरीर का चैतन्य सतेज अनुभवाता होने से, 'भूतों के समुदाय रूप शरीर में से वह चैतन्य उत्पन्न होता है।'

यह मान्यता ठीक नहीं है। कारण कि उस समय पुष्ट बना हुआ शरीर चैतन्य का सहायक बनता है, किन्तु शरीर मात्र सहायक होने से उस देह में से चैतन्य उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं मान सकते। जैसे अग्नि द्वारा स्वर्ण में स्वर्ण पिघलता है, यह द्रव्यता होने में अग्नि सहायकारी है; किन्तु इससे यह नहीं कहा जाता है कि अग्नि में से द्रव्यता उत्पन्न हुई। सही रूप में इस तरह कहा जाता है कि स्वर्ण में से द्रव्यता उत्पन्न हुई। द्रव्यता धर्म स्वर्ण का है, इस तरह चैतन्य सतेज होने में पुष्ट शरीर भले ही सहकारी हुआ हो, इसे इस तरह नहीं कहा जाता है कि देह में से चैतन्य उत्पन्न हुआ। किन्तु चैतन्य आत्मा से ही होता है। इसलिये कहा जाता है कि–**'चैतन्य आत्मा का ही धर्म है।'** फिर कितनेक मनुष्य हृष्ट-पुष्ट देहवाले होने पर भी उनका ज्ञान कम-अल्प होता है और कितनेक मनुष्य कृश-दुर्बल (पतले) होने पर भी उनका ज्ञान विशेषरूप में होता है, ऐसा अनुभव हो जाता है। इससे पुष्ट देहवाले को अधिक-विशेष ज्ञान होता है, ऐसा नियम कहाँ रहा? जब ऐसा नियम नहीं रहता है तब देह में से चैतन्य उत्पन्न होता है, यह कथन किस तरह से माना जाय? अर्थात् देह में से चैतन्य कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता। चैतन्य तो आत्मा से ही होता है।

देह में से चैतन्य उत्पन्न होता हो तो मृत्यु-मरण के पश्चाद् भी देह-शरीर तो है, तो उस शव को चैतन्य क्यों नहीं होता ? शव को चैतन्य कभी भी नहीं होता है। इसलिये कहा जाता है कि चैतन्य तो आत्मा से ही होता है। फिर जिसका विकार होने पर जिसका विकार होता है, उसका वह कार्य कहा जाता है। अर्थात् उसमें से वह उत्पन्न हुआ, ऐसा कहा जाता है। जैसे–श्वेत तन्तुओं से बने हुए वस्त्र को लाल रंग से रंगने पर वे तन्तु भी लाल रंग वाले हो जाते हैं; जिसे माना जाता है कि तन्तुओं से वस्त्र बना। परन्तु शरीर और चैतन्य में ऐसा अनुभवाता नहीं। कारण कि पागल हुए मानव का चैतन्य विकार वाला होता है, तो भी उसका शरीर तो पूर्व जैसा ही होता है। उसके शरीर में कोई विकार दिखता नहीं, तो पीछे शरीर में से चैतन्य उत्पन्न होता है, इस तरह कैसे माने ? फिर जिसकी वृद्धि होती है उससे वह उत्पन्न हुआ, इस तरह कहते हैं। जैसे–मिट्टी अधिक होवे तो घड़ा बड़ा बनता है, इससे माना जाता है कि मिट्टी में से घड़ा होता है; किन्तु देह और चैतन्य में ऐसा अनुभवाता नहीं। कारण कि एक हजार योजन के देह वाले मत्स्यों को ज्ञान अति-अल्प होता है तथा उनसे छोटे देह वाले मनुष्यों का ज्ञान उनसे अधिक होता है।

इस तरह किसी भी प्रकार से 'भूतों के समुदाय रूप शरीर में से ज्ञान उत्पन्न होता है' ऐसा सिद्ध कभी भी नहीं हो सकता। इसलिये अवश्य मानना चाहिये कि देह-शरीर से ज्ञान कभी भी उत्पन्न नहीं होता, किन्तु देह-शरीर से भिन्न किसी पदार्थ से ज्ञान उत्पन्न होता है। वह पदार्थ है '**आत्मा**'।

(६) इन्द्रिय द्वारा अनुभूत पदार्थ इन्द्रिय के और पदार्थ के अभाव में अन्धत्वादि प्रसंग पर भी स्मरण रहते हैं, वह भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करता है।

(७) स्वप्न में अनुभव कौन करता है? तो कहना पड़ेगा कि—'**आत्मा ही**' करता है।

(८) जहाँ पर अपना देह-शरीर भी दिखाई नहीं देता, ऐसे घनघोर अँधेरे में भी '**मैं हूँ**' इस तरह प्रत्यक्ष अनुभव आत्मा का ही होता है; न कि शरीर का।

(९) "**आत्मा नहीं है**" यह वाक्य भी आत्मा की सिद्धि करता है। जैसे कोई कहे कि 'देवदत्त नहीं है'। इस वाक्य से देवदत्त की सत्ता स्वयं ही सिद्ध होती है।

(१०) जैसे दूध में घी है, तिल में तेल है, काष्ठ में

अग्नि है, पुष्प में सुगन्ध है तथा चन्द्रकान्तमणि में सुधा है, वैसे ही देह-शरीर में आत्मा है। वह शरीर से भिन्न है।

(११) जैसे पवन-वायु से भरी हुई थैली को खाली करके तौल करने पर भी वजन नहीं घटता है, वैसे ही मृतक के वजन में भी फेरफार नहीं होता है। अर्थात् कमी नहीं होती है। कारण कि आत्मा अगुरुलघु गुण वाला है।

(१२) शारीरिक अस्वस्थता में शरीर कृश होते हुए तथा कोई अकस्मात् में शरीर का रंग पलट जाने पर संदेह होता है कि 'क्या यह मेरा शरीर है?' फिर कारणवशात् शरीर के अवयव कपाइ जाने पर उन अवयवों द्वारा किये हुए अनुभव को कौन याद रखता है? तो कहना पड़ेगा कि अनुभव करने वाले अवयव का तो विनाश हो गया है? यही कथन आत्मा की सिद्धि करता है।

(१३) जिसके गुण प्रत्यक्ष होते हैं वह गुणी भी प्रत्यक्ष ही माना जाता है। अर्थात् गुणों के प्रत्यक्ष से गुणी भी प्रत्यक्ष कहलाता है। स्मरण, इच्छा, संशय

इत्यादि गुण सर्व को स्वानुभव से प्रत्यक्ष सिद्ध हैं । . अतः उन गुणों के आधार, आत्मा रूपी गुणी को भी स्वप्रत्यक्ष सिद्ध मानना चाहिये ।

स्मरण, इच्छा, संशय इत्यादि गुणों का आधार शरीर तो नहीं कहा जाता । कारण कि जैसा गुण हो वैसा ही गुणी होता है । वह अमूर्त्त और चैतन्य रूप है जबकि शरीर तो मूर्त्त तथा जड़ रूप है । इस तरह अमूर्त्त और चैतन्य रूप गुणों का आधार-मूर्त्त और जड़ रूप शरीर कैसे हो सकता है ? इसलिये अमूर्त्त और चैतन्य रूप गुणों का आधार गुणी, अमूर्त्त तथा चैतन्य रूप ऐसा आत्मा ही स्वीकारना चाहिये ।

इस तरह आत्मा आंशिक रूप से प्रत्यक्ष है । आत्मा का सर्वांगीण प्रत्यक्ष तो सिर्फ सर्वज्ञ ही कर सकते हैं। जैसे दूध में निहित घी भी दूध का दही, मक्खन, तापनादिक विधियाँ करने से ही प्रत्यक्ष होता है; वैसे ही इधर भी सर्वज्ञ बनने के लिये छद्मस्थ आत्मा को तपश्चर्यादि विधियों का आचरण करना होता है ।

- इस प्रकार सर्वज्ञ के केवलज्ञान प्रत्यक्ष से आत्मा प्रत्यक्ष सिद्ध होती है ।

- त्रैकालिक प्रत्यक्ष में 'मैं' के प्रत्यक्ष-भास से भी आत्मा प्रत्यक्ष सिद्ध होती है।

- संदेह-संशयादिक स्फुरण के स्वप्रत्यक्ष से भी आत्मा प्रत्यक्ष सिद्ध होती है।

- 'मैं' के संदेह-संशय के अभाव से भी आत्मा प्रत्यक्ष सिद्ध होती है।

- स्वप्न में 'मैं हूँ' ऐसे अबाधित प्रत्यक्ष अनुभव से भी आत्मा प्रत्यक्ष सिद्ध होती है।

- गुणी में रहे हुए गुण के प्रत्यक्ष से भी आत्मा प्रत्यक्ष सिद्ध होती है, इत्यादि। ऐसे अनेक प्रत्यक्ष प्रमाणों से आत्मा की सिद्धि अवश्यमेव होती है।

अनुमान प्रमाण से आत्मा की सिद्धि

(१) जैसे **'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः'**—जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ वह्नि-अग्नि है। उसी प्रकार से इधर भी 'विद्यमानभोक्तृकम् इदं शरीरं, भोग्यत्वात्, ओदनादिवत्' इति। जो भोग्य यानी भोगने के योग्य है, उसका भोक्ता—भोगने वाला अवश्य होता है। जैसे भोजन तथा वस्त्रादिक भोग्य हैं, तो उसका भोक्ता मनुष्य आदि

होता है; उसी माफिक शरीर भी भोग्य है तो उसका भोक्ता शरीरी होना चाहिये। वह है आत्मा। अर्थात् भोजन, वस्त्र आदि वस्तुओं की भाँति शरीर भी भोग्य वस्तु है। इसलिये उसका भोक्ता अवश्य होना ही चाहिये। जैसे महल, मकान आदि मालिक बिना नहीं होते। देह-शरीर भी भोग्य है, इसलिये उसका भोक्ता अवश्य होगा। शरीर, सम्पत्ति तथा सुख-प्रभुता इत्यादिक का भोक्ता तथा दुःखादिक का भी भोक्ता यह आत्मा ही है। यह आत्मा शरीर में रहते हुए भी शरीर से भिन्न है।

(२) किसी भी सजीव व्यक्ति के शरीर में भिन्न आत्मा है, यह कथन सिद्ध करने के लिये ऐसा अनुमान होता है कि इसके देह को प्रवृत्त और निवृत्त बनाने वाली आत्मा इसके अन्दर है। मृत्यु हो जाने पर अर्थात् शरीर में से आत्मा आत्मप्रदेशों के साथ बाहर निकल जाने पर शरीर में स्वतः अंश मात्र भी इष्ट-प्रवृत्ति या अनिष्ट-निवृत्ति नहीं होती है। देह में आत्मा विद्यमान होने तक ही देह प्रवृत्त-निवृत्त होता रहता है। जैसे—बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, अश्वसंचालित रथ इत्यादि।

(३) शरीर भोग्य है आत्मा उसका भोग करने वाली

है। उसी समय पर उसी स्थान पर भोगी का होना आवश्यक नहीं है, अन्यत्र भी हो सकता है। जैसे वस्त्रादि अन्यत्र हों तथा उसका पहनने वाला अन्यत्र हो।

(४) मनुष्य जैसे साहसी रूप साधन से काम लेता है उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी साधन स्वरूपा हैं। आत्मारूपी स्वामी इन्द्रियों से काम लेता है। यथा चाकू से कलम घड़ी जाती है, दातृ से काटी जाती है तथा दीपक से दिखाई देती है। इसमें घड़ने वाला, काटने वाला तथा देखने वाला अलग-अलग है। उसी प्रकार इन्द्रियों को तथा विषयों को ग्रहण करने वाले अलग-अलग हैं। साधक को साधन की अपेक्षा है, परन्तु साधन और साधक दोनों ही एक हों, ऐसा सम्भव नहीं है।

(५) तुरन्त जन्मे हुए बालक को स्तनपान करना किसने सिखाया? तृप्त होते ही वह स्तन क्यों छोड़ देता है? इन संस्कारों का अनुभव करने वाला कौन है? तो कहना पड़ेगा कि—यह आत्मा ही है।

(६) पुत्र में पिता से विपरीत गुणों या अवगुणों का उदय किस कारण होता है? इसका कारण यह है कि आत्मा पृथक्-पृथक् संस्कारों को लेकर जन्मती है।

(७) भूतावेश होने से भूत के आधीन चेष्टा होती है। उसी प्रकार शरीर में होने वाली चेष्टाएँ आत्मा के आधीन होती हैं तथा भूत के नष्ट होने पर चेष्टा नहीं होती वैसे ही आत्मा के जाने पर शरीर भी निश्चेष्ट हो जाता है।

(८) शरीर रूपी घर को तथा उसमें रही हुई सारी मशीनरी, मस्तक, आँख, कान, नाक, जीभ और स्पर्शेन्द्रिय, हाथ-पाँव, सिर में संदेश कार्यालय तथा संदेशवाहक ज्ञानतन्तु, गले-कण्ठ में वाद्य यन्त्र, अन्तःकरण-हृदय में जीवन-शक्तियाँ तथा उसके नीचे के विभाग में स्टोर और महानस-रसोई स्थान, फिर नीचे स्थित मूत्र-थैली और मल इत्यादि विचित्र प्रकार के कारखाने को किसने बनाया? और इन सब का संचालन करने वाला कौन? तो कहना ही पड़ेगा कि **'आत्मा'**। कारखाना बनाने वाला और इन सब का संचालन करने वाला आत्मा ही है।

(९) जैसे शब्द बन्द कमरों में से, भोंयरा में से या कोठी में से बाहर निकलता है तथा दूसरे कक्ष में प्रवेश करता है, वैसे ही आत्मा भी शरीर में से बहिर्गमन करती है और प्रवेश भी करती है। तो भी आत्मा को अरूपी होने से प्रत्यक्ष नहीं देख सकते।

(१०) जैसे सर्प स्वयं ही जीवित अवस्था में संकुचित और विकसित हो सकता है, न कि मृतावस्था में। इससे मानना ही पड़ेगा कि वहाँ पर भी अन्दर रही हुई आत्मा ही काम कर रही है। यह काम आत्मा के निकल जाने पर मृतावस्था में नहीं होता।

(११) अहिंसा, सत्य, संयमादि शुभ भाव, आकुलता-व्याकुलतादि अशुभ भाव, मन-वचन-काया के योग, ज्ञान-दर्शन के उपयोग, पुरुषार्थ इत्यादि; ये सब चेतन आत्मा के धर्म हैं और उसके कार्य हैं।

(१२) शरीर की प्रत्येक प्रवृत्ति का नियामक-निरोधक कौन ? तो कहना पड़ेगा कि आत्मा। जैसे आँख को बन्द करना, छींक को रोकना, चलते-चलते बीच में पाँवों का रुकना, लघुशंका (मूत्रशंका) को भी रोकना, क्रोधादि को रोकना और क्षमादिक को धारण करना, इत्यादि सब कार्यों का नियन्त्रण करने वाला आत्मा ही है।

(१३) **'अहम्'** और **'मम'** अर्थात् **'मैं'** और **'मेरा'** इस तरह बोलने वाला और शरीरादिक का ममत्व करने वाला कौन ? तो कहना पड़ेगा कि **'आत्मा ही'**।

(१४) इन्द्रियों के बीच में संघर्ष हो जाय तो उनका न्याय करने वाला न्यायाधीश कौन ? तो कहना पड़ेगा कि **'आत्मा ही'** ।

(१५) विश्व में प्रतिपक्ष-विरोध भी सत्-विद्यमान पदार्थ का ही होता है । जैसे धर्म-अधर्म, आर्य-अनार्य, अहिंसा-हिंसा, दया-निर्दयता; वैसे जीव का प्रतिपक्ष अजीव है । इससे आत्मा की अस्तिता सिद्ध होती है ।

(१६) माता की कुक्षि में से एक साथ में जन्मे हुए युगल बच्चों में स्वभाव इत्यादि में फेरफार क्यों ? तो कहना पड़ेगा कि दोनों आत्माएँ भिन्न हैं इसलिये ।

(१७) विश्व में जिसके स्वतन्त्र पर्याय होते हैं, उसका वाच्य भी स्वतन्त्र होता है । जिस तरह अंग, शरीर, तनु, देह, काया तथा कलेवर इत्यादि देह के पर्यायों का वाच्य देह-शरीर स्वतन्त्र है; इसी तरह आत्मा, जीव, चेतन इत्यादि आत्मा के स्वतन्त्र पर्याय हैं । इसलिये उनसे स्वतन्त्र आत्म द्रव्य-जीवद्रव्य की सिद्धि होती है ।

(१८) विश्व में परिभ्रमण करने वाले किसी को पूर्व भव के-पूर्व जन्म के जातिस्मरण ज्ञान द्वारा इस भव में भी स्मरण होता है और वह अपने पूर्व भव की परि-

स्थिति का वर्णन करता है। पूर्व भव का-पूर्व जन्म का इस भव में स्मरण करने वाला और पूर्व भव की अपनी परिस्थिति का भी वर्णन करने वाला सचेतन आत्मा ही है।

(१६) इस संसार में भव-स्थिति परिपाक होते ही संयम की साधना में सकल कर्म का क्षय करके मोक्ष के शाश्वत सुख को पाने वाला सचेतन भव्य आत्मा ही होता है। वही मोक्ष में जाता है और शाश्वत सुख पाता है। तथा अपना भवभ्रमण एवं जन्म-मरण इत्यादि मिटाता है।

उपमान प्रमाण से आत्मा की सिद्धि

जिन्होंने गवय नाम के प्राणी को नहीं देखा है वे **'गोः सदृशो गवयः'** गौ के समान गवय है। अर्थात् गाय की उपमा देकर गवय की पहचान करते हैं। वहाँ तो तुलना का सवाल है, किन्तु इस जगत् में आत्मा के जैसा कोई अन्य पदार्थ ही नहीं है। फिर भी आत्मा की तुलना वायु के साथ की जाती है। जैसे—देह-शरीर में सुस्ती, उदर-पेट का फूलना तथा वायु छूटना इत्यादि पर से अन्दर के अदृश्य वायु का बल निश्चित होता है; इसी तरह देह-शरीर में होती इष्ट-अनिष्ट प्रवृत्तियों का प्रभाव

चेहरे पर दिखाई देती क्रोध-अभिमान की मुद्रा, रक्त का संचार और नसों का कम्पन इत्यादिक से देह-शरीर के अन्दर कोई अदृश्य आत्म द्रव्य है, ऐसा निश्चित-निर्णय होता है। जैसे–वायु से वस्त्रादि उड़ा कहा जाता है, वैसे ही इन्द्रियों, अंगों एवं उपांगों की हलचल तथा मानसिक-मन की विचारणा इत्यादि हुई तो कहते हैं कि भले हम आत्मा को आँख से न देख सकें तो भी यह आत्मा के कारण हुई।

अर्थापत्ति प्रमाण से आत्मा की सिद्धि

(१) अनेक महीनों तक दिन में भोजन नहीं करने वाले ऐसे देवदत्त का शरीर पुष्ट दिखता है। इससे अनुमान अर्थापत्ति का लगाया जाता है कि वह अवश्य ही रात्रि में भोजन करता होगा। कारण कि रात्रिभोजन के बिना ऐसी शारीरिक पुष्टता नहीं घट सकती। इसलिये इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण से आत्मा की सिद्धि होती है।

(२) जिस शरीर में मृत्यु से पूर्व जो हलन-चलन आदि क्रिया दिखाई देती है, उस शरीर में वह मृत्यु के पश्चाद् अदृश्य आत्मा की विद्यमानता-मौजूदगी के बिना नहीं हो सकती। कारण कि, इस शरीर का संचालन करने

वाला आत्मा चला गया है। मृत देह पड़ा है। उसमें हलन-चलन सदन्तर बन्द है। इस तरह अर्थापत्ति प्रमाण से आत्मा सिद्ध है।

सम्भव प्रमाण से आत्मा की सिद्धि

सम्भव प्रमाण भी एक प्रकार का अनुमान है। इससे भी आत्मा की सिद्धि हो सकती है।

(१) जैसे—माता की कुक्षि में गर्भ का काल पूर्ण करके बालक ने जन्म लिया। उसी समय दिखाई देती इष्ट वृत्ति तथा चैतन्य-स्फुरण इत्यादि कार्यों के पीछे कुछ अदृश्य कारण सिद्ध होते हैं। आत्मा भी इन अदृश्य पदार्थों में से एक है। वहाँ आत्मा हेतु रूप तो है ही। इस तरह सम्भव प्रमाण से कहा जाता है। इसलिये सम्भव प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि होती है, ऐसा कह सकते हैं।

(२) जैसे—किसी के पास दो सौ रुपये हैं। इस प्रकार जानने के बाद, यह अनुमान होता है कि उस व्यक्ति के पास सौ तो हैं ही। इस तरह सम्भव प्रमाण से कहा जाता है।

ऐतिह्य-ऐतिहासिक प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि

होती है। जैसे–विश्व में आत्मा की मान्यता परापूर्व से चली आ रही है, ऐसा ज्ञानियों, विद्वानों, बुद्धिशालियों ने कहा है, इतना ही नहीं; किन्तु सामान्य-पामर जनता भी बोल रही है कि जीवन्त है अर्थात् शरीर में जीव है, अभी तक शरीर में से जीव गया नहीं है–आत्मा चली नहीं गई है; इत्यादि। यह कथन ऐतिह्य प्रमाण-ऐतिहासिक प्रमाण से जीव-आत्मा की सिद्धि बता रहा है। इस तरह उपर्युक्त सभी प्रमाणों से आत्मा की सिद्धि अवश्य ही होती है। अर्थात् आत्मा-जीव अवश्य ही सिद्ध होता है।

आत्मा के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दर्शनों की मान्यता

विश्व में अनेक दर्शन हैं। उनमें षट्दर्शन सुप्रसिद्ध हैं। आत्मा के सम्बन्ध में षट्दर्शनों की मान्यता भिन्न-भिन्न प्रकार की है। उनका यहाँ संक्षेप में दिग्दर्शन कराया जा रहा है–

(१) **न्याय-वैशेषिक दर्शन**–इस दर्शन वाले 'जीव-आत्मा' में ज्ञानादिक गुण मानते हैं, किन्तु वह ज्ञानादि गुण सहज नहीं आगन्तुक, कारणवशाद् नवीन उत्पन्न होने वाले गुण स्वरूप मानते हैं। कारण न हो तो कोई भी

ज्ञानादि नहीं जानना। ऐसी मान्यता में वहाँ पर प्रश्न यह होगा कि ज्ञानरहित काल में चेतन का चैतन्य स्वरूप क्या होगा ? उनके मत में तो मोक्ष में जड़ पत्थर जैसी मुक्ति मिलेगी। सर्वदा ज्ञान का अभाव ही रहेगा। फिर इस दर्शन वाले आत्मा को एकान्त नित्य और विश्वव्यापी कहते हैं। इस तरह यदि आत्मा को एकान्त नित्य ही माना जाय तो आत्मा में परिवर्तन अर्थात् फेरफार किसी भी प्रकार का नहीं हो सकता, तो पीछे समय-समय पर भिन्न-भिन्न अवस्थायें कैसे हो सकती हैं ? मोक्ष का मार्ग भी किसलिये ? कारण कि उसके मत में तो आत्मा में कोई भी परिवर्तन होगा ही नहीं; तो पीछे आत्मा का विश्वव्यापित्व और भवान्तर या देशान्तर में भी गमनागमन किस तरह माना जाय ? तथा सुख-दुःख का ज्ञान देह-शरीर में ही क्यों ?

(२) **सांख्य-योग-दर्शन**—इस दर्शन वाले आत्मा अनेक मानते हैं, तो भी उसे कूटस्थ-स्थिर-नित्य कहते हैं। अर्थात् तीनों ही काल में किसी भी प्रकार के परिवर्तन के लिये वह आत्मा अयोग्य है। ज्ञानादि गुण बिना निर्गुण-गुणविहीन है; इसी तरह मानते हैं। इस मान्यता के बारे में प्रश्न यह होता है कि इस जीव-आत्मा का मोक्ष

ही नहीं, तो मोक्ष के लिये प्रयत्न फिर किस बात का करना ?

(३) **वेदान्त-दर्शन**—इस दर्शन वाले अद्वैतवादी हैं। सर्व में एक ही आत्मा मानते हैं। अर्थात् आत्मा को शुद्ध ब्रह्म के स्वरूप में एक ही मानते हैं, किन्तु यह धारणा उपयुक्त नहीं है। कारण कि विश्व के जीवों में कोई सुखी तो कोई दुःखी, कोई धर्मी तो कोई अधर्मी, कोई ज्ञानी तो कोई अज्ञानी, कोई आस्तिक तो कोई नास्तिक, कोई हिंसक तो कोई अहिंसक-दयालु इत्यादि जो भिन्न-भिन्न विचित्रता दिखाई दे रही है; यदि वह आत्मा एक ही हो तो यह सब कैसे हो सकता है ? एवं इससे बन्ध-मोक्ष भी घटित नहीं हो सकता है।

(४) **बौद्ध-दर्शन**—इस दर्शन वाले आत्मा को विज्ञान स्वरूप मानते हुए भी क्षणिक कहते हैं। आत्मा क्षणिक होने से परिवर्तन तो होता है तो भी दूसरे क्षण में ही आत्मा गुम हो जाता है। इस तरह द्वितीय क्षण में आत्मा को विनष्ट अर्थात् सर्वथा मूलतः नष्ट ही माना जाय तो पूर्वकृत कर्मों का भोक्ता—भोगने वाला कौन ? तथा जो आत्मा अभी कर्म भोगता है, वह तो स्वयं पूर्व में था ही नहीं फिर ये कर्म किस आत्मा ने किये ? पूर्व

आत्मा नष्ट हो गया तो पुनःस्मरण भी कैसे हो सकता है ? पहले तत्त्वज्ञान, पीछे चिन्तन, फिर मनन-ध्यान इन क्रमिक क्रियाओं की प्रवृत्ति क्षणिक आत्मा में किस तरह घट सकती है ? अर्थात् एकक्षण स्थायी आत्मा में इनकी संगति कैसे हो सकती है ?

(५) **चार्वाक-दर्शन**—यह दर्शन नास्तिक दर्शन के रूप में प्रसिद्ध है। इस मत वाले आत्मा, पुण्य-पाप, परभव एवं मोक्ष इत्यादि नहीं मानते हैं। बस; खाना-पीना और मौज-मजा करना। क्यों इस लोक के प्रत्यक्ष सुख छोड़कर परोक्ष अदृष्ट सुख की आशा रखना ?

(६) **जैन-दर्शन**—अनेकान्तदर्शन और स्याद्वाद दर्शन रूप में सुप्रसिद्ध है। आत्मा के सम्बन्ध में इस दर्शन की मान्यता यह है कि आत्मा अनेक हैं, देह परिमाणवन्त हैं, द्रव्य से नित्य हैं और पर्याय से अनित्य हैं। आत्मा के लक्षण के सम्बन्ध में भी कहते हैं कि—

यः कर्त्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च।
संसर्त्ता परिनिर्वाता, सह्यात्मा नान्यलक्षणः ॥

अर्थात्—यह आत्मा ही कर्मभेदों का कर्त्ता है, संसार

में परिभ्रमण करने वाला है और दया, इन्द्रिय-दमनादि उपायों द्वारा कर्मरहित होकर मोक्ष में भी जाने वाला है। इस तरह ज्ञानादि स्वरूप वाला आत्मा सिद्ध ही है। आत्मा का यही लक्षण है, दूसरा लक्षण नहीं है। इस तरह आस्तिक दर्शनों के मत से भी आत्मा की अस्तिता सिद्ध होती है।

आगम-शास्त्रप्रमाण से आत्मा की सिद्धि

जैनदर्शन अनेकान्त दृष्टि से आत्मा के सम्बन्ध में उक्त ये सभी स्वरूप मानता है। इसलिये इसमें उस आत्मा के सम्बन्ध में आगमप्रमाण मिलते हैं।

दया-दान-दमन से भी आत्मा की सिद्धि

आत्मा नहीं मानने वाले ऐसे नास्तिकवाद का खण्डन करके प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आत्मा की सिद्धि की गई है। अब हे गौतमगोत्रीय इन्द्रभूति! विश्व में आत्मद्रव्य विद्यमान है इतना ही नहीं, किन्तु आत्मा ही एक स्वतन्त्र तत्त्व भी है। इसलिये तो तेरे ही वेदशास्त्र में कहे हुए अग्नि-होत्रादि यज्ञ के स्वर्गफलादि घट सकते हैं। पुनः वेद में ही कहा है कि—"**स वै अयमात्मा ज्ञानमयः**"। वह आत्मा ज्ञानमय है। फिर "**ददद**—दमो दानं दया

इति दकारत्रयं यो वेत्ति स जीवः"। दम, दान और दया इन तीन दकार को जो जानता है, वह जीव-आत्मा ही है; इत्यादि वेदवाक्यों से भी **'आत्मा-जीव है'** इस तरह सिद्ध होता है।

"विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति।" यहाँ **'विज्ञानघन एव'** अर्थात् विज्ञान का घन ही विशेष ज्ञान। यह ज्ञान गुण आत्मा के स्वभाव रूप है। वह आत्मा के अभेद भाव से होता है, इसीलिये आत्मा उनके उपयोगमय बनती है। आत्मा का विज्ञान के साथ गाढ़ सम्बन्ध हो जाता है। इसलिये इससे भी आत्मा विज्ञानघन कहलाती है। यहाँ पर विज्ञान पृथिव्यादि भूतों को लेकर उत्पन्न होता है। इसलिये कहा जाता है कि नया-नया ज्ञान स्वरूप आत्मा उन-उन ज्ञानों को लेकर उत्पन्न हुआ। कारण कि ज्ञान और आत्मा का अभेद भाव है। इससे यह हुआ कि पृथिव्यादि भूतों से विज्ञानघन का ही जन्म होता है। अर्थात् पृथिव्यादि भूतों से आत्मा में ज्ञान स्वरूप प्रकट होता है, किन्तु अन्य सुखादि स्वरूप नहीं।

इस तरह सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर परमात्मा के वदन-मुंह से "विज्ञानघन एव०" का अर्थ जानकर वेद की

इस श्रुति का मेरे द्वारा किया हुआ अर्थ असत्य, अयुक्त था ऐसा मानकर और उनका सच्चा अर्थ पाकर तथा प्रत्यक्ष-अनुमान आदि प्रमाणों से भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले प्रभु के ऐसे सुवचन सुनकर श्री इन्द्रभूति का **'जीव-आत्मा है कि नहीं ?'** इस विषय का संदेह-संशय नष्ट हुआ। विश्व में **'आत्मा है'** इस कथन का निश्चय उनके अन्तःकरण में हुआ। तत्काल श्री इन्द्रभूति ने अपने सर्वज्ञपने के अभिमान को तिलांजलि दे दी और सच्चे सर्वज्ञ विभु श्री महावीर स्वामी भगवान का शिष्य बनने का निर्णय किया। उनके साथ में आये हुए पाँच सौ छात्र-विद्यार्थियों ने भी उन्हीं के साथ में दीक्षित होने की तत्परता की।

छिन्न संदेह-संशय वाले ऐसे श्री इन्द्रभूति अपने पाँच सौ छात्र-विद्यार्थियों के साथ प्रव्रजित-दीक्षित हुए। दीक्षित यानी दीक्षा पाने के साथ ही भगवान को तीन प्रदक्षिणा-पूर्वक **'भगवन् किं तत्त्वं ?'** इस प्रकार तीन बार पूछा। भगवन्त ने भी कहा–**"उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा"** अर्थात् 'सर्व पदार्थ वर्तमान पर्याय रूप से उत्पन्न होते हैं, पूर्व की पर्याय रूप से नष्ट होते हैं तथा मूल द्रव्य रूप में ध्रुव-नित्य रहते हैं।' इस तरह सर्वज्ञ प्रभु के मुँह से

'**त्रिपदी**' सुनकर श्री इन्द्रभूति ने एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में सम्पूर्णपने '**श्री द्वादशाङ्गी**' की सुन्दर रचना की।

॥ इति श्रीगणधरवादे प्रथम गणधर श्री इन्द्रभूति-गौतम स्वामीजी का संक्षिप्त वर्णन पूर्ण हुआ ॥

❀ द्वितीय गणधर श्री अग्निभूति ❀

'कर्म का संशय'

लोगों द्वारा अपने ज्येष्ठ बन्धु श्री इन्द्रभूति को अपने पाँच सौ शिष्यों सहित प्रव्रजित-दीक्षित सुना तो उनके दूसरे लघु बन्धु श्री अग्निभूति विचार करने लगे। वे चौंक उठे—हैं ? यह क्या ? कभी पर्वत पानी की भाँति पिघल सकता है। अग्नि शीतल हो सकती है। हिम का समूह जल सकता है, वायु स्थिर हो सकती है, चन्द्र में से अंगारे बरस सकते हैं तथा पृथ्वी भी पाताल में पेस सकती है, किन्तु मेरे बड़े बन्धु श्री इन्द्रभूति कभी हार जायें, ऐसा नहीं हो सकता है।

अत: अग्निभूति ने निश्चय किया कि मैं स्वयं जाकर उस धूर्तराज को जीत कर अपने भ्राता को लेकर लौटता हूँ। यह विचार कर श्री अग्निभूति भी अपने पाँच सौ शिष्यों को साथ लेकर शीघ्र सर्वज्ञ विभु श्री महावीर

भगवान के पास आये। उसी समय भगवान ने भी उनको मधुर वाणी में पूछा कि–

हे गौतमाग्निभूते ! कः, सन्देहस्तव कर्मणः ? ।
कथं वा वेदतत्त्वार्थं, विभावयसि न स्फुटम् ।।

"हे गौतमगोत्रीय अग्निभूते ! तुम्हारे अन्तःकरण में कर्म के अस्तित्व का संदेह-संशय है। किन्तु वेदपद में रहे हुए तात्त्विक अर्थ को स्फुटपने क्यों नहीं विचारते हो ?" इस तरह कह कर भगवान ने वेद की श्रुति का उच्चारण किया।

"पुरुष एवेदं ग्निं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्" इत्यादिः।

हे अग्निभूते ! **'पुरुष एवेदं ग्निं'** इसमें **'ग्निं'** वाक्य के अलंकार के लिये है। इस वेद के पद से प्रारम्भ हुई श्रुति का अर्थ करते हुए तुम कहते हो कि–**यद्भूतम् अतीतकाले, यच्च भाव्यं भाविकाले तत् सर्वम् इदं पुरुष एव-आत्मैव, एवकारः कर्मेश्वरादिनिषेधार्थः।**

यह प्रत्यक्ष चेतन-अचेतन रूप जो भूतकाल में हो गया है और जो भविष्यकाल में होने वाला है; वह सब पुरुष ही है अर्थात् आत्मा ही है। आत्मा के बिना कर्म ईश्वर

इत्यादि कुछ भी नहीं हैं। विश्व में देव, मनुष्य, तिर्यंच, पर्वत तथा पृथ्वी इत्यादि जो-जो वस्तुएँ दिखाई दे रही हैं वे सर्व आत्मा ही हैं। आत्मा बिना की एक भी वस्तु नहीं है। इस वचन से 'सर्व वस्तुएँ आत्मा की हैं' कर्म की नहीं। इसलिये **'कर्म नहीं है'** ऐसा तुमको स्पष्टपने लगता है।

फिर तुम मानते हो कि उक्त वेदपद का अर्थ युक्ति से भी युक्त लगता है। कारण कि 'आत्मा **अमूर्त्त है'** उसको मूर्त्त ऐसे कर्म द्वारा अनुग्रह और उपघात किस तरह सम्भव सकता है ? जैसे अमूर्त्त आकाश का मूर्त्त चन्दन आदि द्वारा मण्डन-विलेपन और तलवार आदि शस्त्र द्वारा खण्डन नहीं हो सकता है, वैसे अमूर्त्त आत्मा को भी मूर्त्त ऐसे कर्म से अनुग्रह और उपघात नहीं हो सकता। इसलिये कर्म नाम का पदार्थ नहीं है। ऐसा निश्चयात्मक निर्णय नहीं किया। कारण कि कर्म की सत्ता प्रतिपादन करने वाले अन्य वेदपदों को तथा लोक में भी कर्म की प्रसिद्धि देखकर तुम सन्देह-संशय में पड़े हो कि **'कर्म है कि नहीं ?'**

परन्तु हे अग्निभूति ! यह तेरा सन्देह-संशय अयुक्त है। कारण कि **"पुरुष एवेदं ग्निं सर्वं यद् भूतं यच्च**

भाव्यम् "। इस वेदपद का जो अर्थ तुमने किया है वह बराबर नहीं और उसकी पुष्टि में युक्ति भी बराबर नहीं है। इसका समीचीन अर्थ इस प्रकार है–चेतन-अचेतन स्वरूप 'जो कोई भूतकाल में हुआ है और जो भविष्यकाल में होने वाला है वह सब आत्मा ही है।' इस तरह कहने वाले ने वेदपदों में आत्मा की स्तुति की है, किन्तु आत्मा की स्तुति करने से 'कर्म नहीं है' ऐसा समझने का नहीं। शास्त्रों में आए हुए पद तीन प्रकार के होते हैं–(१) कितनेक पद **विधिदर्शक,** (२) कितनेक पद **अनुवाददर्शक** और (३) कितनेक पद **स्तुति रूप** होते हैं।

इन तीन प्रकार के पदों में कितनेक विधिदर्शक अर्थात् कितनेक विधि को प्रतिपादन करने वाले होते हैं। जैसे "**स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयाद्**" 'स्वर्ग की कामना वाले को अग्निहोत्र (यज्ञ-होम) करना चाहिये' इत्यादि। ऐसे विधि बताने वाले वेदवाक्य विधि के प्रतिपादक कहे जाते हैं। "**द्वादशमासाः संवत्सरः**"। 'बारह मास का एक संवत्सर अर्थात् वर्ष कहा जाता है' इत्यादि तथा "**अग्निरुष्णः**"। 'अग्नि उष्ण अर्थात् गरम होती है' इत्यादि। इस तरह कहने वाले वाक्य विश्व में प्रसिद्ध बात का मात्र अनुवाद करने वाले कहे जाते हैं। "**इदं**

पुरुष एव"। अर्थात् 'जो-जो दिखाई देता है वह सर्व पुरुष ही है। अर्थात् आत्मा ही है' इत्यादि। इस तरह कहने वाले वाक्य स्तुति करने वाले कहे जाते हैं। आत्मा की प्रशंसा करने वाले हैं, न कि आत्मा बिना अन्य वस्तुओं का निषेध करने वाले हैं। कितनेक वेदवाक्य स्तुतिपरक हैं। जैसे–

जले विष्णुः स्थले विष्णुः, विष्णुः पर्वतमस्तके।
सर्वभूतमयो विष्णु-स्तस्माद् विष्णुमयं जगत्॥

'जल में विष्णु है, स्थल में विष्णु है, पर्वत के मस्तक पर भी विष्णु है, एवं सर्व भूतमय विष्णु है। इस कारण जगत्-विश्व विष्णुमय है।' ऐसे वाक्यों से विष्णु की महिमा बताई है। किन्तु इससे अन्य वस्तुओं का अभाव सिद्ध नहीं होता।

"इदं पुरुष एव" इसका भी असत्य अर्थ करने से कर्म का अभाव मानने के लिये तुमने अमूर्त्त आत्मा को मूर्त्त कर्म से अनुग्रह और उपघात किस तरह से होता है? इस प्रकार की युक्ति की है, वह भी असत्य-अयुक्त है। कारण कि–ज्ञान अमूर्त्त है, उसका भी मूर्त्त ब्राह्मी आदि औषध द्वारा तथा घी दूध इत्यादि उत्तम पदार्थों द्वारा

अनुग्रह होता है, ऐसा स्पष्टपने दिखता है। फिर मूर्त्त मदिरा, विष-जहर आदि पदार्थों द्वारा अमूर्त्त ऐसे ज्ञान का भी उपघात होता है। यह भी स्पष्टपने दिखाई देता है। इसलिये अमूर्त्त के भी मूर्त्त द्वारा अनुग्रह और उपघात दोनों ही होते हैं, ऐसा अवश्य ही मानना चाहिए।

पुनः यदि कर्म नहीं हों तो एक सुखी और एक दुःखी, एक राजा और एक रंक, एक सेठ और एक किंकर इत्यादि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली विश्व की विचित्रता कैसे सम्भव हो सकती है? राजा और रंक ऐसे उच्च-नीच का जो भेद देखने में आता है, उसका भी कोई कारण होना चाहिये। विश्व में प्रत्यक्षपने अनुभवाता विचित्रपना कर्म को माने बिना नहीं बन सकता है। इसलिये कर्म को तो अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। जैसे अंकुर कार्य है तथा उसका कारण बीज है, उसी प्रकार सुख-दुःख कार्य हैं तथा कर्म उनका बीज है; तथा समान कारण होने पर भी विषमता दिखाई देना कर्म के कारण ही होता है। फिर जो-जो क्रिया की जाती है, उसका फल अवश्य मिलता ही है। वह फल **शुभ कर्म** या **अशुभ कर्म** है।

इस तरह सर्वज्ञ विभु श्री महावीर परमात्मा के मुँह

से **"पुरुष एवेदं ग्निं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्"** इस वेद की श्रुति का मेरे द्वारा किया हुआ अर्थ आज तक असत्य अयुक्त था, ऐसा जानकर और उसका सच्चा अर्थ पाकर, तथा **'कर्म है'** ऐसे प्रभु के युक्तिसंगत सुवचन सुनकर श्री अग्निभूति विप्रपंडित का 'कर्म है कि नहीं ?' इस विषय का सन्देह—संशय नष्ट हुआ। विश्व में **'कर्म है'** इस सत्य कथन का निश्चय उनके अन्तःकरण में निश्चित हुआ। तत्काल श्री अग्निभूति ने अपने सर्वज्ञपने के अभिमान को तिलांजलि दी और सच्चे सर्वज्ञ विभु श्री महावीर भगवान का शिष्य बनने का निर्णय किया। साथ में आये हुए पाँच सौ शिष्यों ने भी उनके साथ में ही दीक्षा की तैयारी की। छिन्नसन्देह-संशयवाले ऐसे श्री अग्नि-भूति अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ प्रभु के पास प्रव्रजित-दीक्षित हुए। उन्होंने दीक्षा के साथ ही भगवान को तीन प्रदक्षिणा पूर्वक **'भगवन् किं तत्त्वं ?'** इस प्रकार तीन बार पूछा। भगवन्त ने कहा—**"उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा"** अर्थात्—'सर्व पदार्थ वर्त्तमान पर्याय रूप में उत्पन्न होते हैं, पूर्व के पर्याय रूप में नष्ट होते हैं तथा मूल द्रव्यरूप में ध्रुव-नित्य रहते हैं'। इस तरह सर्वज्ञ प्रभु के मुँह से **'त्रिपदी'** सुनकर गणधर

श्री अग्निभूति ने एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में सम्पूर्णपने 'श्री द्वादशाङ्गी' की उत्तम रचना की ।

॥ इति श्रीगणधरवादे द्वितीय गणधर श्रीअग्निभूति का संक्षिप्त वर्णन ॥

❀ तीसरे गणधर श्रीवायुभूति ❀

'शरीर ही जीव है ?' संशय

उन दोनों बड़े बन्धु श्रीइन्द्रभूति और श्रीअग्निभूति को दीक्षित हुए सुनकर तीसरे बन्धु श्रीवायुभूति विचारने लगे कि–"मेरे दो अग्रज भ्राता जिसके शिष्य हो गये हैं वह मेरे भी पूज्य ही है। मैं भी उनके पास जाकर अपने संदेह-संशय को दूर करने के लिये प्रश्न पूछूँ और प्रत्युत्तर सही रूप में समझकर उनकी शरण स्वीकार करूँ।

इस विचार से वे भी अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर परमात्मा के पास आये। प्रभु ने उसे उसी प्रकार नाम-गोत्र के उच्चारण से सम्बोधित किया और कहा कि–

"तज्जीवतच्छरीरे, सन्दिग्धं वायुभूतिनामानम्।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि ? ।।"

हे गौतमगोत्रीय श्रीवायुभूते ! "यच्छरीरं स

एवात्मा अन्यो वा ? इति।" यह शरीर है वही आत्मा है कि शरीर से भिन्न आत्मा है ? अर्थात्–'**यह शरीर ही जीव है या इस शरीर से जीव की सत्ता भिन्न है ?'** इस प्रकार का सन्देह–संशय तुम को परस्पर विरुद्ध वेदवाक्यों से हुआ है। यदि तुम्हें सन्देह है तो वेदवाक्यों के वास्तविक अर्थ को क्यों नहीं विचारते हो ?

"विज्ञानघन एवैतेभ्यः भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्यति, न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति ।।"

श्रीइन्द्रभूति की भाँति तू भी उक्त वेदवाक्य का अर्थ गलत कर रहा है। तू जानता है कि 'शरीर से भिन्न आत्मा नहीं है, किन्तु शरीर ही आत्मा है'। इसका अर्थ तू इस तरह करता है––

विज्ञान का समुदाय ही इन पृथ्वी आदि पाँच भूतों में से उत्पन्न होकर पुनः पृथ्वी आदि भूतों में ही लय हो जाता है। विज्ञान का समुदाय ही उत्पन्न होता है। उस विज्ञान का आधार पाँच भूत ही हैं, परन्तु आत्मा को शरीर से पृथग्-भिन्न मानने वाले जो विज्ञान के आधार पर आत्मा नाम के पदार्थ को शरीर से पृथग्-भिन्न मानते हैं वह आत्मा नाम का पदार्थ शरीर से पृथग्-भिन्न नहीं है। जैसे मदिरा के अंगों में से मदशक्ति उत्पन्न होती है, वैसे

शरीर रूप में परिणत पाँच भूतों में से चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है। इस तरह शरीर रूप में परिणाम पाये हुए पाँच पृथिव्यादि भूतों में से विज्ञान का समुदाय उत्पन्न होकर के, पीछे जब परिणाम पाये हुए पाँच भूतों का विनाश होता है तब, विज्ञान का समुदाय भी जल-पानी में परपोटा की भाँति उन भूतों में ही लय पाता है। इस भाँति पाँच भूतों के समुदायरूप शरीर में से चैतन्य उत्पन्न होता है। इसलिये इस चैतन्य का आधार शरीर है। इसे लोकवर्ग जो आत्मा शब्द से बोल रहे हैं, वह आत्मा शरीर से पृथग्-भिन्न आत्मा ही नहीं है। इसलिये इस वेदवाक्य में कहा है कि–"**न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति**" अर्थात् शरीर और आत्मा की पृथक्संज्ञा नहीं है, परन्तु शरीर ही आत्मा है।

फिर 'पाँच भूतों के समुदायरूप शरीर से आत्मा पृथग् भिन्न है'। इस तरह प्रतिपादन करने वाले अन्य वेदपदों को देखकर तू सन्देह-संशय में पड़ा है कि–'**शरीर ही आत्मा है कि शरीर से भिन्न आत्मा है?**' '**आत्मा शरीर से भिन्न है।**' इस प्रकार प्रतिपादन करने वाले वेदपद इस प्रकार हैं–

"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा ब्रह्मचर्येण नित्यं।

ज्योतिर्मयोहि शुद्धो यं पश्यन्ति धीरा यतयः संयतात्मानः॥" इत्यादि, अस्यार्थः—"**एष ज्योतिर्मयः शुद्ध आत्मा सत्येन तपसा ब्रह्मचर्येण लभ्यः**—ज्ञेय इत्यर्थः ।"

'इस ज्योतिर्मय शुद्ध आत्मा को संयममय बनाने वाले ऐसे धीर यति ही देख सकते हैं। उस शुद्ध ज्योतिर्मय आत्मा को प्राप्त करना हो, अर्थात् अज्ञान जैसे बने हुए आत्मा को शुद्ध ज्योतिर्मय बनाने का हो तो वह, सत्य के आसेवन द्वारा, तप के आसेवन द्वारा और ब्रह्मचर्य के आसेवन द्वारा बना सकते हैं।'

ऐसे स्पष्ट अर्थ वाले वेद की श्रुति से आत्मा पाँच पृथिव्यादि भूतों से पृथग्-भिन्न है, ऐसा स्पष्टपने समझा जाता है। इस कारण से 'जो शरीर है वही आत्मा है, कि शरीर से आत्मा पृथग्-भिन्न है?' ऐसा सन्देह-संशय परस्पर विरुद्ध भासते हुए वेदपदों से हुआ है। परन्तु हे वायुभूते! तेरा यह सन्देह-संशय असत्य-अयुक्त है। कारण कि—"विज्ञान घन०" इस वेद-वाक्य का अर्थ तू सही रूप में नहीं समझा है। इस वेदवाक्य का सच्चा अर्थ इस प्रकार है—

जिस तरह इस वेदवाक्य का सत्यार्थ श्री इन्द्रभूति को

बताया था, उसी माफिक प्रभु ने कहा कि—"**विज्ञानघन एव**" जो विशिष्ट ज्ञान अर्थात् ज्ञान-दर्शन का उपयोग वह विज्ञान कहलाता है। वह विज्ञान का समुदाय ही आत्मा ज्ञेयपने अर्थात् जानने योग्यपने को प्राप्त हुए इन पृथ्वी आदि भूतों या घट-पट इत्यादि भूतों के विकारों से 'यह पृथ्वी है, यह घट-घड़ा है, यह वस्त्र है' इत्यादि प्रकार से उन-उन भूतों के उपयोगरूप में उत्पन्न होकर उन घट आदि भूतों का ज्ञेयपने अभाव हो जाने के पश्चात् आत्मा भी उनके उपयोगरूप में नष्ट होता है। तथा अन्य पदार्थ के उपयोग रूप में उत्पन्न होता है, या सामान्यस्वरूप में रहता है। इस तरह पूर्व के उपयोग रूप में आत्मा नहीं रहने से वह पूर्व के उपयोगरूप संज्ञा रहती नहीं है। अर्थात्—आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर ज्ञान-दर्शन के उपयोग रूप अनंत पर्याय रहते हैं। विज्ञान के समुदाय से आत्मा कथंचित् अभिन्न है अर्थात् विज्ञानघन है। जब घट-पट वस्त्र इत्यादि भूत ज्ञेयपने प्राप्त हुए हों तब घट-पटादिरूप हेतु से 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि प्रकार के उपयोग रूप में आत्मा परिणमता है। कारण कि आत्मा को उस उपयोग रूप में परिणमाने में घटादि पदार्थ का सापेक्षपना है। बाद में जब उन घट-पट इत्यादि भूतों का अन्तर पड़ जाय, या उनका अभाव हो जाय, अथवा

अन्य पदार्थ में मन चला जाय; इत्यादि किसी भी कारण से आत्मा का उपयोग अन्य पदार्थ में प्रवर्तता हो तब, पूर्व में घट-पटादि पदार्थ जो ज्ञेयपने थे, वे पदार्थ ज्ञेयपने नहीं रहते। किन्तु अन्य पदार्थों में जो उपयोग प्रवर्ता हुआ हो वे पदार्थ ज्ञेयपने प्राप्त होते हैं। इस तरह जब वे घट-पट इत्यादि ज्ञेयपने नहीं रहते हैं, तब आत्मा भी 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि प्रकार के उपयोग रूप में रहता नहीं हैं। इसलिये ही इस वेदवाक्य में कहा है कि—'न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति' अर्थात् अन्य पदार्थ के उपयोग समये पूर्व के उपयोगरूप संज्ञा रहती नहीं है। ऐसा सत्यार्थ होने से स्पष्ट समझा जाता है कि शरीर से आत्मा पृथग्-भिन्न है।

'विज्ञानघन०' इत्यादि पदों का गूढ़ार्थ समझाते हुए कहा—यदि शरीर तथा आत्मा भिन्न नहीं होते तो जीवन और मरण का भेद होता ही नहीं। परस्पर विरुद्धता की तुम्हें प्रतीति भ्रान्ति से ही होती है। वेदवाक्य आत्मा की सत्ता को प्रतिपादित करता है। आज भी किसी-किसी को जातिस्मरण ज्ञान द्वारा पूर्व-जन्म का ज्ञान दृष्टिगत होता है। अतः प्रत्येक भव में सुख-दुःख सहन करने वाला शरीर पृथक्-पृथक् है। पुनः दूर होने

से, सूक्ष्म होने से, समीप होने से, मनस्थिरता, मतिभेदता, इन्द्रिय संवेदनहीनता, आवरणता, पराभवता, विस्मयता, अन्धता, व्यद्ग्राह्यता, मिथ्यात्व, वृद्धत्व, सन्निपातादि अनेक कारणों से वस्तु-सत्ता होने पर भी अदृश्यता रहती है। उसी प्रकार छद्मस्थ जीव को शरीर से अपना आत्मा अलग होने पर भी दिखता नहीं है। आत्मा जैसे शरीर से पृथक् दिखता है, उसे सर्वज्ञ केवलज्ञानी देख सकते हैं, जबकि अज्ञान युक्त जीव इसे भ्रम-जाल ही मानता है। अनादिकाल से जड़ और चेतन दूध तथा घी के समान समवायित है और दूध को देखकर घी का अनुमान कर लेते हैं; उसी प्रकार देह-शरीर की चैतन्यता देखकर आत्मा का अनुमान भी कर लेते हैं। जीवित अवस्था में शरीर सड़ता नहीं, वही शरीर मृतावस्था में दुर्गन्ध युक्त हो जाता है। इससे आत्मा की भिन्नता सिद्ध होती है।

इस तरह सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीरस्वामी के मुँह से "विज्ञानघन एव०" वेद की इस श्रुति का श्रीइन्द्रभूति की माफिक मेरे द्वारा आज तक किया हुआ अर्थ अयुक्त-असत्य था, ऐसा जानकर और उनका सच्चा अर्थ पाकर, तथा 'आत्मा शरीर से पृथग्-भिन्न है' प्रभु के ऐसे युक्तियुक्त सुवचन सुनकर श्रीवायुभूति विप्र का 'शरीर ही आत्मा है

कि शरीर से भिन्न आत्मा है?' इस विषय का सन्देह-संशय नष्ट हुआ। 'आत्मा शरीर से भिन्न है' इस सत्य कथन का निश्चय अपने अन्तःकरण में निश्चित हुआ। तत्काल श्रीवायुभूति ने अपने सर्वज्ञपने के अभिमान को तिलांजलि दे दी और सच्चे सर्वज्ञ विभु श्री महावीर भगवान् का शिष्य बनने का निर्णय किया। साथ में आये हुए उनके पाँच सौ शिष्यों ने भी उनके साथ में ही दीक्षित होने की तैयारी की। छिन्न सन्देह-संशय वाले ऐसे श्री वायुभूति अपने पाँच सौ छात्रों को साथ में लेकर प्रभु के पास प्रव्रजित-दीक्षित हुए। दीक्षा पाने के साथ ही भगवान को तीन प्रदक्षिणापूर्वक **'भगवन् किं तत्त्वं ?'** इस प्रकार तीन बार पूछा। भगवन्त ने कहा– **"उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा"** अर्थात्–'सर्व पदार्थ वर्त्तमान पर्यायरूप में उत्पन्न होते हैं, पूर्व के पर्याय रूप में नष्ट होते हैं, तथा मूल द्रव्य रूप में ध्रुव–नित्य रहते हैं।' इस तरह सर्वज्ञ प्रभु के मुँह से **'त्रिपदी'** सुनकर गणधर श्रीवायुभूति ने एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में सम्पूर्णपने **'श्रीद्वादशाङ्गी'** की अनुपम रचना की।

।। इति श्रीगणधरवादे तृतीयगणधर श्रीवायुभूति का संक्षिप्त वर्णन ।। □

❀ चौथे गणधर श्रीव्यक्तजी ❀

'पंचभूत के अस्तित्व में संदेह–संशय'

इस तरह श्रीइन्द्रभूति, श्रीअग्निभूति तथा श्रीवायुभूति इन तीनों को अपने-अपने छात्र-परिवारों के साथ दीक्षित सुनकर चौथे श्रीव्यक्त नाम के विप्र ने भी विचार किया–'जिनके श्रीइन्द्रभूति आदि भी शिष्य हो गए वे मेरे भी पूजनीय हैं। इसलिये अब मैं भी शीघ्र उनके पास जाऊँ और अपने सन्देह-संशय को दूर करूँ।'

इस तरह निर्णय करके श्रीव्यक्त विप्रपण्डित अपने पाँच सौ शिष्यों सहित शीघ्र सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर भगवान के पास आये। उसी समय भगवान ने भी मधुरवाणी से उसके नाम-गोत्र का उच्चारण करते हुए कहा–

"पञ्चसु भूतेषु तथा, सन्दिग्धं व्यक्तसंज्ञकं विबुधम्।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि॥

चौथे व्यक्त नाम के पंडित अपने अन्तःकरण में 'पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश' इन पाँच भूतों के अस्तित्व में ही सन्देह-संशय धरने वाले थे। तथा वेद की श्रुति का अर्थ भिन्न रीति से करने वाले थे। उनको प्रभु ने कहा—"हे व्यक्त! तेरे हृदय में यह संदेह-संशय है कि—**'पाँच भूत हैं कि नहीं ?'** यह संशय भी तुम को परस्पर विरुद्ध भासते हुए वेदपदों से हुआ है। तुम किस लिये वेदपदों के वास्तविक अर्थ को भावित नहीं करते हो ?" ऐसा कहकर प्रभु ने वेदवाक्यों का उच्चारण किया—**"येन स्वप्नोपमं वै सकलं इत्येष ब्रह्मविधिरञ्जसा विज्ञेय"** इति। इस वेदवाक्य का अर्थ तुम इस तरह से करते हो कि—पृथ्वी, पानी इत्यादि समस्त विश्व स्वप्न सदृश ही है। जैसे—स्वप्न में रत्न, स्वर्ण वस्त्र, स्त्री, पुत्र, अन्न इत्यादि देखते हैं; किन्तु वास्तविक रूप में वे कुछ नहीं हैं; वैसे पृथ्वी, पानी इत्यादि भूतों को देखते हैं, लेकिन वास्तविक रूप में वे पदार्थ नहीं हैं; सर्व स्वप्न सदृश ही हैं। अर्थात्—निश्चितपने यह दृश्यमान पृथ्वी आदि सर्व जगत् स्वप्नोपम है। इस वेदवाक्य से भूतों का अभाव प्रतीत होता है। इस तरह यह ब्रह्मविधि शीघ्र जान लेना। इससे तू जानता है कि पृथ्वी आदि भूत नहीं हैं। पुनः **"पृथ्वी देवता आपो देवता"**।

अर्थात्–'पृथ्वी देवता है, जल देवता है' इत्यादि वेदवाक्यों से पृथ्वी, जल इत्यादि पाँच भूतों की सत्ता सिद्ध होती है। इसलिये तू सन्देह-संशय में पड़ गया है कि–**'पाँच भूत हैं कि नहीं ?'**

"हे व्यक्त ! यह तेरा सन्देह-संशय असत्य-अयुक्त है। कारण कि **'स्वप्नोपमं वै सकलम्'** इत्यादि। (समस्त विश्व स्वप्न समान ही है) यह वेद पद गूढ़ार्थ युक्त है। मुमुक्षु जीवों के लिये आत्मसम्बन्धी अध्यात्म चिन्तवन करते समय कनक और कामिनी आदि के संयोग का अनित्यपना सूचन करने के लिये है। अर्थात्–सुवर्ण, धन, पुत्र, स्त्री इत्यादि का सम्बन्ध-संयोग अस्थिर है, असार है और कटु फलविपाक देने वाला है। इसलिये उनकी आसक्ति अर्थात् उन पर का ममत्व भाव त्यजकर, आत्म-मुक्ति के लिये यत्न-प्रयत्न करना चाहिये। इस तरह वैराग्य की वृद्धि के लिये आत्मा को बोध देने वाले ये वेदपद हैं; न कि पंच भूतों का निषेध सूचित करने वाले हैं।

"सारांश यह है कि संसार में परिभ्रमण करते हुए आत्मा को पुद्गल भाव से खसेड़ करके आत्मस्वभाव में लाने के लिये तथा वैराग्य पमाड़ने के लिये यह विश्व

स्वप्नवत् है। इसलिये ऐसा कहा है, किन्तु इससे विश्व के अस्तित्व का निषेध नहीं होता है। यह जीव संसार के इन असार पदार्थों में आसक्त न बने, राग-द्वेषादि न करे तथा अन्त में मोक्ष प्राप्त करे; इसके लिये उपदेश वाक्य है। पंच भूतों के प्रत्यक्ष होने पर भी सन्देह-संशय करना भ्रम है।

"हे व्यक्त! संशय भी उसी का होता है जो वस्तु कहीं-न-कहीं होती है। अतः उसके ज्ञेय पदार्थ का अस्तित्व अनुमान सिद्ध है। स्वप्नावस्था की अनुभूति का सन्देह-संशय जाग्रतावस्था का अनुभव ही होता है। यदि वस्तु का अभाव होता तो स्वप्न में भी वह दृश्यमान नहीं बनती।"

प्रभु के ऐसे युक्ति-संगत वचन सुनकर उनका सन्देह-संशय दूर होने लगा। पुनः उन्होंने कहा कि परमाणु के दो स्वरूप हैं। एक साधारण तथा दूसरा असाधारण। साधारण स्वरूप चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रतिभासित नहीं होता तथा असाधारण स्वरूप चक्षु आदि से प्रतिभासित होता है। इस तरह सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीरस्वामी भगवान के मुँह से "स्वप्नोपमं वै०" इस वेद की श्रुति का सच्चा अर्थ सुनकर मैंने जो अर्थ किया वह असत्य-अयुक्त

था, ऐसा जानकर 'पंच भूत हैं' ऐसे प्रभु के युक्तिसंगत सुवचन सुनकर चौथे श्री व्यक्त नामक विप्र का 'पंच भूत हैं कि नहीं ?' इस विषय का सन्देह-संशय नष्ट हुआ और विश्व में 'पंच भूत हैं' इस सत्य कथन का निश्चय अपने हृदय में निश्चित हुआ। तत्काल श्रीव्यक्त विप्र ने अपने सर्वज्ञपने के अभिमान को तिलांजलि दे दी और उसने सच्चे सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर भगवान का शिष्य बनने का निर्णय किया। अपने पाँच सौ शिष्यों सहित वह दीक्षित होने के लिये तैयार हुआ। छिन्नसन्देह–संशय वाले ऐसे श्रीव्यक्त विप्र ने अपने पाँच सौ विद्यार्थियों के साथ प्रभु के पास दीक्षा ले ली। दीक्षा पाने के साथ ही भगवान की तीन प्रदक्षिणापूर्वक **'भगवन् किं तत्त्वं ?'** इस प्रकार तीन बार पूछा। भगवन्त ने कहा–**"उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा"** अर्थात्–'सर्व पदार्थ वर्त्तमान पर्याय रूप में उत्पन्न होते हैं, पूर्व के पर्याय रूप में नष्ट होते हैं तथा मूल द्रव्यरूप में ध्रुव-नित्य रहते हैं।' इस तरह सर्वज्ञ प्रभु के मुँह से **'त्रिपदी'** सुनकर गणधर श्रीव्यक्त ने एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में सम्पूर्णपने **'श्रीद्वादशाङ्गी'** की अनुपम रचना की।

।। इति श्रीगणधरवादे चतुर्थ गणधर श्रीव्यक्त का संक्षिप्त वर्णन ।। □

❀ पाँचवें गणधर श्रीसुधर्मास्वामी ❀

'जैसा यहाँ वैसा ही जन्म परभव में' इसका 'सन्देह-संशय'

श्रीइन्द्रभूति से श्रीव्यक्त पर्यन्त चारों विद्वान् विप्रों की प्रव्रज्या सुनकर पाँचवें श्रीसुधर्म नाम के पण्डित ने विचार किया कि 'जो श्रीइन्द्रभूत्यादि चारों विद्वानों के पूज्य हैं, वे मेरे भी पूज्य हैं। मैं भी शीघ्र उनके पास जाकर अपने मन का सन्देह-संशय दूर करूँ।' "जो इस जन्म में होता है वैसा ही अन्य जन्म में भी होता है?" इस सन्देह से ग्रस्त होकर वे अपनी शंका के समाधान हेतु अपने पाँच सौ शिष्यों सहित प्रभु के पास आये। उसी समय भगवान ने मधुरवाणी में उसके नाम-गोत्र का उच्चारण करते हुए कहा—

यो यादृशः स तादृशः, इति सन्दिग्धं सुधर्मनामानम् ।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि ।।

हे सुधर्मा ! तेरे हृदय में ऐसा सन्देह-संशय है कि–'जो पुरुष होता है वह पुनः पुरुषत्व को प्राप्त करता है तथा जो पशु होता है वह पुनः पशुत्व को प्राप्त करता है।' अर्थात्–जो प्राणी जैसा इस भव में होता है वैसा ही परभव में होता है कि अन्य स्वरूप में ?' यह सन्देह–संशय तुझे परस्पर विरुद्ध भासते हुए वेदपदों से हुआ है–

"पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते, पशवः पशुत्वम् ।"

इस वेदवाक्य के कारण यह बात निश्चित है कि–'पुरुष मृत्यु पा के परभव में पुरुषपने को और पशु पशुपने को प्राप्त करता है' अर्थात्–मनुष्य मृत्यु पाके परभव में मनुष्य ही होता है, देव, पशु इत्यादि अन्य रूप में नहीं।

फिर तू मानता है कि उक्त वेदपदों का अर्थ युक्ति से भी युक्त लगता हे। जैसा कारण होता है वैसा ही उस का कार्य सम्भवता है। जैसे–शालि के बीज से शालि का ही अंकुर उत्पन्न होता है, न कि शालि के बीज से गेहूँ का अंकुर; वैसे ही मनुष्य ही होना चाहिये, न कि पशु या अन्य कोई जीव; इस तरह वेदपदों से तथा युक्ति से भी तू

जानता है कि जो प्राणी जैसा इस भव में होता है, वैसा ही परभव में होता है। तथा

"शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते।'

'जिसे विष्टा युक्त जलाया जाय वह शृगाल (सियार) होता है'। अर्थात्–जिस किसी मनुष्य को मृत्यु के समय विष्टा हो जाय, उसको विष्टा सहित जलाया जाय तो वह मनुष्य परभव में शृगाल रूप में उत्पन्न होता है। इन वेदपदों से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य मृत्यु पाकर परभव में शृगाल-सियार भी होता है। इससे 'जो प्राणी इस भव में जैसा हो वैसा ही परभव में उत्पन्न होता है' ऐसा नियम न रहा। तू परस्पर विरुद्ध भासते ऐसे वेदपदों से संदेह-संशय में पड़ा है। परन्तु हे सुधर्मा! यह तेरा संदेह-संशय असत्य-अयुक्त है।

"पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशवः पशुत्वम्" इस वेदपद का सच्चा अर्थ इस प्रकार है–'पुरुष मृत्यु पाकर परभव में पुरुषपने को प्राप्त करता है और पशु मृत्यु पाकर परभव में पशुपने को प्राप्त करता है।' कहने का तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य भद्रक प्रकृतिवन्त अर्थात् सरल परिणामी होता है, विनय-विवेक, नम्रता, सरलता इत्यादि गुणों से युक्त होता है, वह मनुष्य इस भव में मनुष्यपने का आयुष्य-

कर्म बाँधकर और मृत्यु पाकर पुनः मनुष्य जन्म पाता है; अर्थात् पुनः मनुष्य रूप में उत्पन्न होता है। तथा जो पापी मनुष्य होता है वह मृत्यु पाकर पशु या नारकी रूपों में भी उत्पन्न होता है। मायादि दोष युक्त पशु भी मृत्यु पाकर पुनः पशु रूप में उत्पन्न होता है, किन्तु भद्रक परिणामी पशु मृत्यु पाकर मनुष्य या देवरूप में भी उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्राणियों की भिन्न-भिन्न गतियों में उत्पत्ति कर्म के आधीन होती है। इसलिये प्राणियों का विविधपना दिखाई देता है।

फिर जो तू मानता है कि—जैसा कारण हो वैसा ही तद्सदृश कार्य सम्भवता है। यह भी मान्यता युक्ति-संगत नहीं है, कारण कि गोबर आदि में से बिच्छू आदि की उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिये निमित्त मिल जाता है तो विसदृश कार्यों की अर्थात् विचित्र कार्यों की भी उत्पत्ति होती है। सारांश यह है कि उक्त वेदवाक्यों से सन्देह-संशय में पड़े हुए सुधर्म का संशय दूर करते हुए प्रभु ने कहा—

कोई मनुष्य अपने जीवन में नम्रतादि मनुष्यपने के आयुष्य का बन्ध कराने वाले गुणों को अपनावे और अच्छी तरह से जीवे तो वह पुनः भी मनुष्य होता है। यह वाक्य

इस प्रकार के अर्थ का निरूपण करने वाला है। किन्तु 'मनुष्य मनुष्य ही होता है' ऐसे अर्थ का निश्चय कराने वाला नहीं। क्योंकि विष्टा से कीट उत्पन्न होते हैं, कंडों में बिच्छू, शृंग में से शर-प्राण वनस्पति तथा सरसों के लेप से बोया जाय तो एक पृथक् ही घास उत्पन्न होती है। गाय के तथा अजा के रोम से दूर्वा तथा धो उत्पन्न होती है तथा पृथक्-पृथक अनेक द्रव्यों के सम्मिश्रण से सर्प, सिंह, मत्स्य इत्यादि और मणि, स्वर्णादि उत्पन्न होते हैं। अतः वस्तु सदृश भी होती है तथा विसदृश भी होती है। इसे अनेकान्त दृष्टि से स्वीकारना चाहिये। जो इस लोक में है वह परलोक में सर्वदा असदृश है। परलोक में भी देवत्व को प्राप्त सभी समान शरीर नहीं होते और न ही सर्वथा असमान ही होते हैं।

इस तरह सर्वज्ञ विभु श्री महावीरस्वामी भगवान के मुँह से **"पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशवः पशुत्वे"** वेद की इस श्रुति का सही अर्थ जानकर 'मैंने जो अर्थ किया वह असत्य-अयुक्त था' ऐसा मानकर प्रभु के युक्तिसंगत सुवचन सुनकर पाँचवें श्रीसुधर्मा नाम के द्विज (ब्राह्मण) का 'जैसा यहाँ है वैसा ही जन्म परभव में होता है कि नहीं?' इस विषय का संदेह-संशय नष्ट हुआ। तत्काल

श्रीसुधर्मा नामक विप्र पंडित ने अपने सर्वज्ञपने के अभिमान को तिलांजलि दे दी और सच्चे सर्वज्ञ विभु श्री महावीर भगवान का शिष्य बनने का निर्णय किया। उनके साथ आये हुए उनके पाँच सौ शिष्यों ने भी उनके साथ में ही दीक्षित होने का विचार किया।

छिन्न सन्देह-संशय वाले ऐसे श्री सुधर्माद्विज भी अपने पाँच सौ छात्रों के साथ प्रभु के पास प्रव्रजित-दीक्षित हुए। दीक्षा पाने के साथ ही उन्होंने भगवान की तीन प्रदक्षिणा-पूर्वक 'भगवन् ! किं तत्त्वं ?' इस प्रकार तीन बार पूछा। भगवन्त ने कहा—**"उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा"** अर्थात्—'सर्व पदार्थ वर्त्तमान पर्याय रूप में उत्पन्न होते हैं, पूर्व के पर्याय रूप में नष्ट होते हैं तथा मूल द्रव्य रूप में ध्रुव-नित्य रहते हैं।' इस तरह सर्वज्ञ प्रभु के मुँह से **'त्रिपदी'** सुनकर गणधर श्रीसुधर्मा स्वामीजी ने एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में सम्पूर्णपने **'श्रीद्वादशाङ्गी'** की सुन्दर रचना की।

॥ इति श्रीगणधरवादे पञ्चम गणधर श्रीसुधर्मा स्वामीजी का संक्षिप्त वर्णन ॥

* छठे गणधर श्रीमण्डितजी *

'बन्ध-मोक्ष का सन्देह'

प्रथम श्रीइन्द्रभूति से पंचम श्रीसुधर्मास्वामी पर्यन्त विप्रपण्डितों की प्रव्रज्या-दीक्षा सुनकर छठे श्रीमण्डित नाम के विप्रपण्डित ने भी विचार किया कि जिनके पास श्रीइन्द्रभूति आदि पाँचों जन अपने-अपने शिष्य-परिवार सहित दीक्षित हुए और पाँचों मुख्य उन्हीं के ही शिष्य बने, वे मेरे भी पूज्य हैं। अब मैं भी शीघ्र उनके पास जाऊँ और अपने मन का सन्देह-संशय दूर करूँ। इस तरह निर्णय करके छठे श्रीमण्डित नाम के विप्र पण्डित अपने साढ़े तीन सौ शिष्यों को साथ लेकर सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर स्वामी भगवान के पास आये।

उसी समय भगवान ने भी मधुरवाणी में उसके नाम और गोत्र का उच्चारण करते हुए उसे कहा कि--

अथ बन्ध-मोक्षविषये, सन्दिग्धं मण्डिताभिधं विबुधम्।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि ?॥

"हे मण्डित ! तेरे अन्तःकरण में यह सन्देह-संशय है कि--'**आत्मा को कर्म का बन्ध तथा कर्म से मोक्ष है कि नहीं** ?' यह सन्देह भी तुम को परस्पर विरुद्ध भासते हुए वेदपदों से हुआ है। "**स एष विगुणो विभुर्न बध्यते संसरति वा मुच्यते मोचयति वा, न वा एष बाह्यमभ्यन्तरं वा वेद ।**" उक्त वेदपदों से तू जानता है कि--'आत्मा को कर्म का बन्ध और कर्म से मोक्ष नहीं है।' इनका अर्थ तू इस प्रकार करता है--सत्त्वादि गुणों से रहित और सर्वत्र व्यापक ऐसी यह आत्मा न तो बन्धन में आती है और न संसार के परिवर्त्तन से परिवर्तित होती है तथा न मोक्ष प्राप्त करती है और न मुक्त करवाती है।

अर्थात्--'सत्त्व, रजस् और तमस्' इन गुणों से रहित और व्यापक यह जीव, पुण्य-पाप से संसार में परिभ्रमण नहीं करता है, कर्मरूपी बन्धन होने से उसका मोक्ष भी नहीं होता तथा अकर्त्ता होने से अन्य किसी को कर्म से मुक्त भी नहीं करता है।

पुनः यह जीव अपने से भिन्न ऐसे महत् अहंकार इत्यादि बाह्यस्वरूप को तथा अभ्यन्तर यानी अपने स्वरूप को नहीं जानता है। कारण कि ज्ञान प्रकृति का धर्म है,

किन्तु आत्मा का धर्म नहीं। अतः जीव बाह्य और अभ्यन्तर स्वरूप को नहीं जानता है।

इस तरह वेदपदों से तू जानता है कि––'आत्मा को बन्ध और मोक्ष नहीं है।' फिर आत्मा को बन्ध और मोक्ष जानने वाले अन्य वेदपदों को देखकर तू सन्देह-संशय में पड़ा कि **आत्मा को कर्म का बन्ध और मोक्ष है कि नहीं ?**

आत्मा को बन्ध और मोक्ष जानने वाले वेदपद निम्नलिखित हैं––"**न ह वै सशरीरस्य प्रिया-ऽप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसंतं प्रिया-ऽप्रिये न स्पृशतः।**" शरीर सहित यानी संसारी आत्मा को सुख और दुःख का अभाव नहीं ही है। अर्थात् संसारी आत्मा को सुख और दुःख अवश्य ही भोगने पड़ते हैं। कारण कि उसको सुख और दुःख के कारणभूत शुभ-अशुभ कर्म होते हैं। शरीररहित यानी कर्म से मुक्त बनी हुई और लोक के अग्र भाग में बसी हुई आत्मा को सुख और दुःख दोनों स्पर्श नहीं करते हैं। क्योंकि इस मुक्तात्मा को सुख और दुःख के कारणभूत एक भी कर्म साथ में नहीं है। इस प्रकार के वेदपदों से स्पष्ट होता है कि **'आत्मा को बन्ध और मोक्ष है।'**

इस तरह परस्पर विरुद्ध भासते हुए वेदपदों से तुम सन्देह-संशय में पड़े हो। परन्तु हे मण्डित ! यह तुम्हारा सन्देह-संशय असत्य-अयुक्त है। कारण कि 'स एष विगुणो विभुर्न बध्यते०' इत्यादि वेदपदों का तुम्हारा अर्थ वास्तविक नहीं है। उसका सच्चा अर्थ तो इस प्रकार है--

'विगुण:' यानी छद्मस्थपने के गुणरहित और **'विभु:'** यानी केवलज्ञान स्वरूप में सर्व व्यापक ऐसी आत्मा अर्थात् मुक्तात्मा **'न बध्यते'** कर्म से बँधती नहीं है, **'न संसरति वा'** संसार में परिभ्रमण नहीं करती है, **'न मुच्यते'** कर्म से मूकाती नहीं है तथा **'न मोचयति वा'** अन्य को कर्म से मूकाती भी नहीं है। पुन: **'न वा एष बाह्यमभ्यंतरं वा वेद'** यह मुक्तात्मा पुष्प, चन्दन इत्यादिक से होने वाले बाह्य सुख को तथा अभिमान से होने वाले आन्तरिक सुख को अनुभवरूप में नहीं जानता। अर्थात् वह सांसारिक सुख को भोगता नहीं है।

सारांश यह है कि निश्चयदेहधारी आत्मा को सुख-दु:ख की निवृत्ति नहीं है, अर्थात् सुख-दु:ख दोनों होते ही हैं। किन्तु देहरहित मुक्त आत्मा को दु:ख-स्पर्श नहीं करते। इन पदों से निश्चय ही वेद

कर्म-बन्धन को मानता है। इस प्रकार वेदपदों के वास्तविक अर्थ को नहीं समझने से विरुद्धता ज्ञात होती है।

वास्तव में 'विगुण' यानी छद्मस्थपने के गुण जिसके नष्ट हुए हैं और 'विभु' यानी केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वरूपे विश्वव्यापक आत्मा नये कर्म के बन्धन में नहीं आता। यदि 'बन्ध-मोक्ष' न हो तो मुक्ति का बोध तथा तदर्थ सारी क्रियाओं का फल ही निष्फल होगा। पुनः प्रत्यक्ष सुख तथा दुःख, पुण्य तथा पाप, जन्म तथा मरण आदि का सम्बन्ध कर्म के कारण ही है। अंकुर तथा फल के समान दोनों में कार्य-कारण भाव से स्थित है। बीज से अंकुर तथा अंकुर से बीज अनादिकाल से चलित है। उसी प्रकार देह से कर्म तथा कर्म से देह भी क्रमशः अनादिकाल से प्रारम्भ है। कर्म पूर्व में या जीव पूर्व में? अर्थात्—पहले अंडा हुआ कि मुर्गी हुई? इन विकल्पों को कहीं अवकाश नहीं है। शरीर से कर्म होते हैं तथा पूर्व कर्मों का परिणाम यह शरीर है। इस प्रकार कार्य-कारण से दोनों का सम्बन्ध अनादिकाल से है। जीव-आत्मा कर्म द्वारा शरीर को उत्पन्न करता है। अतः कर्त्ता है और शरीर द्वारा कर्म की उत्पत्ति

करने से कर्म का भी कर्त्ता है। जिस प्रकार घट का उत्पादक कुम्भकार यह घट का कर्त्ता है, उसी प्रकार जीव तथा कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल का है तथा कर्मों का बन्ध भी अनादिकाल का है।

प्रश्न—पुन: श्रीमण्डित ने पूछा, 'हे प्रभो! कर्म तथा बन्ध का सम्बन्ध यदि अनादिकाल से शाश्वत है तो फिर मोक्ष को कहाँ अवकाश मिलेगा?' प्रत्युत्तर में प्रभु ने कहा कि—'तथा न बध्यते मिथ्या···' यदि बीज तथा अंकुर जो दोनों कार्य-कारण भाव से शाश्वत हैं, उनमें से किसी भी एक का अपने कार्य में शैथिल्य या विनाश होगा तो एक की परम्परा के विनष्ट होते ही दूसरी परम्परा भी नष्ट हो जाती है।

अर्थात्—कारण क नष्ट होते ही कार्य भी नष्ट हो जाता है। कार्य के नष्ट होने पर नवीन कारणों की सृष्टि नष्ट हो जाती है। यथा-सुवर्ण तथा मिट्टी का संयोग खान में परम्परागत कार्य-कारण मान से होने पर भी अग्नि के संयोग से एक का नष्ट होना, वह दोनों की समवायावस्था को नष्ट कर देता है। उसी प्रकार बन्ध में सड़ने से पूर्व ही जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जहाँ जन्म, जरा, मरण, सुख-दु:ख, संताप, रोग, शोक,

भय, पीड़ा इत्यादि स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं। इस तरह मुक्तात्मा का स्वरूप बताने वाले ये वेदपद हैं। किन्तु संसारी आत्मा को तो कर्म का बन्ध भी होता है और कर्म से मोक्ष भी।

इसी भाँति सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर स्वामी भगवान के वदन-मुँह से **"स एष विगुणो विभुर्न बध्यते संसरति वा मुच्यते मोचयति वा।"** इत्यादि वेदपदों का सही अर्थ ज्ञात कर मैंने जो अर्थ किया, वह मिथ्या था; ऐसा जानकर तथा 'आत्मा को कर्म का बन्ध होता है और मोक्ष भी होता है' ऐसे प्रभु के युक्तिसंगत सुवचन सुनकर श्रीमण्डित विप्र पंडित का 'आत्मा को कर्म का बन्ध और कर्म से मोक्ष होता है कि नहीं?' इस विषय का सन्देह-संशय नष्ट हुआ।

तत्काल श्रीमण्डित विप्र ने अपने सर्वज्ञपने के अभिमान को तिलांजलि दे दी और सच्चे सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर भगवान का शिष्य बनने का निर्णय किया। साथ में आये हुए साढ़े तीन सौ छात्रों ने भी उनके साथ ही दीक्षित होने का विचार किया। छिन्न सन्देह-संशय वाले ऐसे श्रीमण्डित विप्र अपने साढ़े तीन सौ छात्रों के साथ प्रभु के पास प्रव्रजित-दीक्षित हुए। उन्होंने दीक्षा

पाने के साथ ही भगवान को तीन प्रदक्षिणापूर्वक 'भगवन्! किं तत्त्वं ?' इस प्रकार तीन बार पूछा। भगवन्त ने फरमाया—"**उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा**" अर्थात्—'सर्व पदार्थ वर्त्तमान पर्याय रूप में उत्पन्न होते हैं, पूर्व के पर्याय रूप में नष्ट होते हैं तथा मूल द्रव्य रूप में ध्रुव-नित्य रहते हैं।' इस तरह सर्वज्ञ प्रभु के मुँह से '**त्रिपदी**' सुनकर छठे गणधर श्रीमण्डित ने एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में सम्पूर्णपने **श्रीद्वादशाङ्गी** की सुन्दर रचना की।

।। इति श्रीगणधरवादे छठे गणधर श्रीमण्डित का संक्षिप्त वर्णन ।।

❀ सातवें गणधर श्रीमौर्यपुत्र ❀

'देव का सन्देह-संशय'

पूर्वोक्त श्रीइन्द्रभूति आदि छह अग्रजों को प्रव्रजित-दीक्षित हुए सुनकर सातवें **श्रीमौर्यपुत्र** नामक विप्र पण्डित ने भी विचार किया कि जिनके श्रीइन्द्रभूति आदि छह अग्रज विप्रपण्डित अपने शिष्य-परिवार के साथ वहाँ जाकर शिष्य बने, वे मेरे भी पूज्य ही हैं। मैं भी अपने शिष्य-परिवार सहित वहाँ शीघ्र जाऊँ और अपने अन्तःकरण में विद्यमान सन्देह-संशय को दूर करूँ। इस तरह विचार कर श्रीमौर्यपुत्र विप्र पण्डित भी अपने साढ़े तीन सौ विद्यार्थियों के परिवार सहित सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर भगवान के पास आये।

उसी समय भगवान ने भी मधुरवाणी से उसके नाम-गोत्र का उच्चारण करते हुए उसको कहा—

"अथ देवविषयसन्देह-संयुतं मौर्यपुत्रनामानम्।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि ? ॥

"हे मौर्यपुत्र ! तेरे हृदय में यह सन्देह-संशय है कि–**'देव है कि नहीं ?'** यह सन्देह तुम को परस्पर विरुद्ध भासते हुए वेदपदों से हुआ है। **"को जानाति मायोपमान् गीर्वाणान् इन्द्र-यम-वरुण-कुबेरादीन्" इति।** उक्त वेदपदों से तू जानता है कि–'देव नहीं है।' इन्द्र, यम, वरुण और कुबेर आदि माया सदृश देवों को कौन जानता है ? अर्थात् इन्द्रादि देव मायारूप हैं। जैसे माया-इन्द्रजाल वास्तविकपने कुछ नहीं है, वैसे देव भी वास्तविकपने कुछ नहीं हैं।

पुनः तुमने विचारा है कि नारकी तो परतन्त्र और दुःख से दुःखी तथा विह्वल होने से इधर नहीं आ सकते हैं। इसलिये उनको प्रत्यक्ष रूप में देखने का कोई भी उपाय न होने से सिर्फ शास्त्र के अनुसार 'नारकी हैं' ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिये। परन्तु देव तो स्वतन्त्र और प्रभावशाली होने से इधर आने के लिए समर्थ होते हुए भी वे देव दृष्टिगोचर नहीं होने से लगता है कि देव नहीं हैं। फिर देव की सत्ता प्रतिपादन करने वाले अन्य वेदपदों को देखकर तू सन्देह-संशय में पड़ा है कि **'देव हैं कि नहीं ?'** देव की सत्ता प्रतिपादन करने वाले वेद पद हैं–**"स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्लोकं**

गच्छति ।" अर्थात्–'यज्ञरूपी शस्त्र-हथियारवाला यह यजमान शीघ्र स्वर्गलोक-देवलोक में जाता है ।"

इस प्रकार के वेदपदों से स्पष्ट होता है कि, **'देव हैं'** कारण कि जो देव न होते तो देवलोक कहाँ से होता ? । इसलिये परस्पर विरुद्ध भासते हुए वेदपदों से तू सन्देह-संशय में पड़ा है कि **'देव हैं कि नहीं ?** किन्तु हे मौर्यपुत्र ! यह तेरा सन्देह-संशय अयुक्त है । क्योंकि इधर इस दिव्य समवसरण में आये हुए इन देवों को तू और मैं सभी प्रत्यक्ष देख रहे हैं । पुनः चन्द्र और सूर्य आदि ज्योतिष्क देवों के विमानों को तो सर्वलोग प्रत्यक्ष देखते हैं । जो देव न होते तो ये विमान नहीं दिखाई देते । वेद के पदों में देवों को जो माया-सदृश कहा है उससे देवों का अनित्यपना सूचित किया है । अर्थात् दीर्घ आयुष्यवाले देव भी अपना आयुष्य पूर्ण होते ही वहाँ से तत्काल च्यवते हैं अर्थात् अन्य गति में चले जाते हैं । इसलिये कहा है कि अन्य पदार्थों की भाँति देव भी अनित्य हैं । इसलिये देवपने की आकांक्षा नहीं रखो, सिर्फ ऐसे मोक्ष की प्राप्ति की ही भावना रखो और उसको ही शीघ्र प्राप्त करने के लिए सर्वथा प्रयत्नशील रहो । इस तरह देवों का अनित्यपना सूचित कर

प्राणियों को बोध दिया है। किन्तु ये वेदपद 'देव नहीं हैं' ऐसा नहीं कहते हैं। देव स्वतन्त्र और प्रभावशाली होते हुए भी संगीतकार्यादिक में व्यग्रता, दिव्य प्रेम तथा विषयों में आसक्ति आदि कारणों से तथा मनुष्यलोक की दुर्गन्ध से इधर आते नहीं हैं। वे केवल श्रीतीर्थंकर भगवन्तों के पाँचों कल्याणकों के प्रसङ्ग पर, भक्ति से तथा पूर्वभव की प्रीति या द्वेष आदि कारणों से इधर आते हैं।

सारांश यह है कि सातवें श्रीमौर्यपुत्र को प्रभु ने कहा कि—"यो जानाति मायोपमान् गीर्वाणान् इन्द्र-यम-वरुण-कुबेरादीन्" अर्थात् इन्द्रजाल के समान इन्द्र, यम, वरुण और कुबेर आदि देवों को किसने देखा है? ऐसा अर्थ करके तुमने 'देव नहीं है' ऐसा समझा है और "स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्लोकं गच्छति।" यह यज्ञ करने वाला याज्ञिक शीघ्र ही स्वर्गलोक में जाता है। इस प्रकार के वेदपदों से तुम्हें परस्पर विरुद्धता ज्ञात होती है, किन्तु वास्तव में विरुद्धता है नहीं। क्योंकि तुम और हम देवों को प्रत्यक्ष देख सकते हैं। देवों को मायोपमान् इस हेतु से कहा है कि देव भी अनित्य हैं। उन्हें भी शाश्वत सुख नहीं है। पूर्व के

देवभव तथा वहाँ के भोगों को जातिस्मरण ज्ञानवाले प्रत्यक्ष देख सकते हैं। देवभव की प्राप्ति की क्रिया भी वेदों में वर्णित है। अति पुण्यवान को पुण्य भोगने का अन्ततोगत्वा कोई स्थान तो होना चाहिये। इससे भी देवगति सिद्ध होती है। लोक अतिपुण्यशाली को देवोपम मानते हैं।

यह संसार देवों के द्वारा अनुग्रह और पीड़ा दोनों ही प्राप्त करता है तो कई बार पीड़ा का अनुभव भी देव कराते हैं। सूर्य–चन्द्रादि के विमानों में रहने वाला कोई तो होगा ही। इससे भी देवत्व सिद्ध होता है। संसार में ऐसा कोई नहीं है जो सब प्रकार से सुखी हो, तथा सर्वदा सुख में ही रहे। मनुष्य कितना ही सुखी हो; आधिदैविक, आधिभौतिक, जरा, इष्टवियोग, रोग आदि का दु:ख भोगता ही है और उत्कृष्ट दानादिक से पुण्यवान बनकर उसे भी कहीं-न-कहीं भोगता है तो वही देवत्व है।

श्रीमौर्यपुत्र क्षणभर विचार करके पुन: शंका करते हैं कि "तो फिर देव मनुष्य के समान ही स्वेच्छाविहारी होने पर यहाँ बार-बार आते क्यों नहीं हैं?" प्रभु ने कहा––"ये देव स्वर्ग में विषयों के सुख में लिप्त एवं

आसक्त होने से बिना कार्य जैसे आज आये हुए दिखते हैं वैसे बार-बार नहीं आते हैं। उसके भी अनेक कारण हैं--

(१) देवों को बार-बार यहाँ आने का विशेष कोई कारण नहीं है।

(२) स्वर्ग के सुख की तुलना में यह मनुष्य लोक दुःखपूर्ण एवं दुर्गन्धमय है। वे स्वयं स्वाधीन एवं सशक्त हैं, अतः मनुष्यों से उनका कोई स्वार्थ नहीं है। श्रीतीर्थंकरभगवन्तों के कल्याणक महोत्सवों में, भक्ति से, केवलज्ञानियों से अपना सन्देह निवारण करने हेतु, या पूर्व भव के ममत्व के कारण, या वचनबद्ध होने पर, या विशिष्ट प्रकार की तपानुष्ठान क्रिया होने पर, उपासना मन्त्रादि के आधीन होने पर, या स्वयं की इच्छा से क्रीड़ा कौतुकार्थ या साधुजनों के परीक्षार्थ देवगण मनुष्यलोक में आते हैं।

इस तरह सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीरस्वामी भगवान के मुँह से "को जानाति ? मायोपमान् गीर्वाणान् इन्द्र-यम-वरुण-कुबेरादीन्" वेदपदों का सही अर्थ जानकर आज तक मैंने जो अर्थ किया वह असत्य-अयुक्त था ऐसा मान कर, तथा 'देव हैं' प्रभु के ऐसे युक्तिसंगत सुवचन सुनकर

सातवें श्रीमौर्यपुत्र विप्रपण्डित का "देव है कि नहीं ?" इस विषय का सन्देह-संशय नष्ट हुआ। **'देव हैं'** इस सत्य कथन का निश्चय अपने मन में निश्चित हुआ। उसी समय श्रीमौर्यपुत्र ने अपने सर्वज्ञपने के अभिमान को तिलांजलि दे दी और सच्चे सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर भगवान का शिष्य बनने का निर्णय किया। उनके साढ़े तीन सौ छात्रों ने भी उनके साथ ही दीक्षित होने का विचार किया।

छिन्न सन्देह-संशय वाले ऐसे सातवें श्रीमौर्यपुत्र अपने साढ़े तीन सौ शिष्यों के साथ प्रभु के पास प्रव्रजित-दीक्षित हुए। दीक्षा पाने के साथ ही उन्होंने भगवान को तीन प्रदक्षिणा पूर्वक **'भगवन् किं तत्त्वं ?'** इस प्रकार तीन बार पूछा। भगवन्त ने कहा–**"उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा"** अर्थात्–'सर्व पदार्थ वर्त्तमान पर्याय रूप में उत्पन्न होते हैं, पूर्व के पर्याय रूप से नष्ट होते हैं तथा मूल द्रव्य रूप में ध्रुव-नित्य रहते हैं।' इस तरह सर्वज्ञ प्रभु के मुँह से **'त्रिपदी'** सुनकर के गणधर श्रीमौर्यपुत्र ने एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में सम्पूर्णपने **'श्रीद्वादशाङ्गी'** की अनुपम रचना की।

।। इति श्रीगणधरवादे सप्तम गणधर श्रीमौर्यपुत्र का संक्षिप्त वर्णन ।। □

❀ आठवें गणधर श्रीअकम्पित ❀

'नारक का संदेह-संशय'

पूर्वोक्त श्रीइन्द्रभूति आदि सात अग्रजों को प्रव्रजित-दीक्षित हुए सुनकर आठवें श्रीअकम्पित नामक विप्र पण्डित ने भी विचार किया कि जिनके श्रीइन्द्रभूति आदि सातों अग्रज विप्र पण्डित अपने शिष्य-परिवार के साथ शिष्य बने, वे मेरे भी पूज्य ही हैं। मैं भी अपने शिष्य-परिवार सहित वहाँ शीघ्र जाऊँ और अपने अन्तःकरण में विद्यमान सन्देह-संशय को दूर करूँ।

इस तरह विचार करके श्रीअकम्पित विप्र पण्डित भी अपने तीन सौ छात्रों के साथ सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर भगवान के पास आये। उसी समय प्रभु ने भी मधुर-वाणी में उसके नाम-गोत्र का उच्चारण करते हुए उसको कहा–

"अथ नारकसन्देहात्, सन्दिग्धमकम्पितं विबुधमुख्यम्।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि? ॥"

"हे अकम्पित ! तेरे हृदय में यह सन्देह-संशय है कि–**"नारकी है कि नहीं ?"** इस प्रकार का सन्देह-संशय तुम को परस्पर विरुद्ध भासते हुए वेदपदों से हुआ है। **"न ह वै प्रेत्य नरके नारकाः सन्ति"** इति। उक्त वेदपदों से तू जानता है कि–**'नारकी नहीं है।'** इन वेदपदों का अर्थ तुम इस प्रकार से करते हो कि–प्रेत्य अर्थात् परलोक में नरक में नारकी नहीं हैं। अर्थात् कोई भी प्राणी मृत्यु पाकर परभव में नारकी होते नहीं। फिर तुम मानते हो कि देव तो चन्द्र-सूर्यादि प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। मनुष्य किसी देव की 'मानता' मानते हैं, तो कितनेक को उस मानी हुई मानता का फल मिलता हुआ देखा जा सकता है। इस तरह मानतादिक का फल दिखने से तथा अनुमान से भी प्रतीति होती है कि देव हैं। परन्तु नारकी न तो प्रत्यक्ष से और न अनुमान से प्रतीति में आते हैं। इसलिये नारकी नहीं हैं। फिर **"नारको वै एष जायते यः शूद्रान्नमश्नाति"** इति। अर्थात्–'जो द्विज-ब्राह्मण शूद्र का अन्न खाता है, वह नारकी होता है।' इन वेदपदों से नारकी की सत्ता भी ज्ञात होती है। क्योंकि–'जो नारकी न होते तो शूद्र का अन्न खाने वाला विप्र-ब्राह्मण नारकी होता है' ऐसा किस तरह कह सकते ? इस तरह परस्पर विरुद्ध भासते हुए वेदपदों से तुम सन्देह-

संशय में पड़े हो कि–'**नारकी है कि नहीं ?**'. परन्तु हे अकम्पित ! यह तेरा सन्देह-संशय अयुक्त है, क्योंकि–"**न ह वै प्रेत्य नरके नारकाः सन्ति ।**" इन वेदपदों का अर्थ जो तुम ने किया है, वह वास्तविक नहीं है। उसका सही अर्थ इस प्रकार है–

'परलोक में नरक में नारकी नहीं हैं, अर्थात् परलोक में नारकी मेरुपर्वतादिक की भाँति शाश्वता नहीं हैं, किन्तु 'जो जीव उत्कृष्ट पाप को उपार्जन करता है वह मृत्यु पाकर के परभव में नारकी होता है।' अथवा 'नारकी पुनः अनन्तर नारकीपने उत्पन्न नहीं होता है।' यह वेदपदों का अर्थ है, परन्तु 'नारकी नहीं है' ऐसा वेदपद नहीं कहते हैं। जैसे देव कारणवशाद् इधर आते हैं वैसे नारकी परवशपना होने से इधर नहीं आ सकते। किन्तु क्षायिकज्ञान वाले तो नारकियों को अपने ज्ञान से प्रत्यक्ष देखते हैं। छद्मस्थों को अनुमान से नारकी की प्रतीति हो सकती है। जैसे जीव-प्राणी उत्कृष्ट पुण्य का फल अनुत्तरदेवपने उत्पन्न होकर भोगता है, वैसे उत्कृष्ट पाप करने वाले जीव को उत्कृष्ट पाप का फल भी अवश्य ही भोगना पड़ता है तथा वह तीव्र और निरन्तर दुःख भोगने रूप फल को नारकीपने उत्पन्न होकर भोगता है। कदा-चित् तुम ऐसा कहो कि उत्कृष्ट पाप का फल तिर्यंचगति

में या मनुष्यगति में भी भोग सकते हैं; क्योंकि तिर्यंचगति में अनेक तिर्यंचों को तथा मनुष्यगति में अनेक मनुष्यों को अत्यन्त दुःखी देखते हैं; किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। कारण कि तिर्यंचगति और मनुष्यगति में तीव्र और निरन्तर दुःख नहीं होता। कदाचित् दुःख विशेष हो तो भी अल्प सुख होता है। फिर नारकियों के जैसा तीव्र दुःख कहा है वैसा दुःख तिर्यंचगति में और मनुष्यगति में नहीं होता। उत्कृष्ट पाप का फल तो तीव्र और निरन्तर दुःख भोगने का होता है। इसलिये मानना चाहिये कि उत्कृष्ट पाप करने वाला जीव मृत्यु पाकर नारकी होकर तीव्र और निरन्तर दुःख भोगता है।

सारांश यह है कि **"न ह वै प्रेत्य नरके नारकाः सन्ति"** इत्यादि वेदपदों से तुमको भ्रम हुआ है कि **'नारकी नहीं है।'** अर्थात् नारकी की सत्ता नहीं होती। दूसरी ओर **"नारको वै एष जायते यः शूद्रान्नं अश्नाति"** इत्यादि वेदपदों से यह स्पष्ट होता कि 'जो शूद्र के अन्न का भक्षण करता है वह नारकी होता है। अर्थात्—शूद्र के अन्न को खाने वाला ब्राह्मण मृत्यु पाकर नरक में नारकी रूप में उत्पन्न होता है। इस प्रकार परस्पर वेदपदों में विरोध आने से तुमको सन्देह-संशय हुआ है कि—**"नारकी है कि**

नहीं ?" क्योंकि "न ह वै प्रेत्य नरके नारकाः सन्ति" यह प्रथम वेदवाक्य भी नारकी के विषय में निषेधात्मक अर्थ व्यक्त नहीं करता, इससे यह अर्थ व्यक्त होता है कि नारकी मेरुपर्वतादि के समान शाश्वत नहीं रहते हैं। जो प्राणी उत्कृष्ट पाप उपार्जन करता है, वह मृत्यु पाकर परभव में नारकी होता है। पुनः उस नारकी से मृत्यु पाकर दूसरे भव में वही फिर नारकी नहीं बनता। अतः सर्वथा नारकी का अभाव नहीं है। अति पाप को भोगने के लिये नारकीस्थिति माननी ही होगी। इस लोक में आप्त पुरुष के प्रत्यक्ष को स्व प्रत्यक्ष जैसा ही स्वीकार किया जाता है। जैसे सिंह आदि का प्रत्यक्ष सभी को नहीं होता, फिर भी अप्रत्यक्ष नहीं है। तुम स्वयं का ही विचार करो, क्या तुमने सारे देश, नगर, ग्राम, नदी, नद, काल इत्यादि सभी देखे हैं? फिर वे दूसरों को प्रत्यक्ष हैं या हुए हैं। इसलिये हमें भी स्वीकार्य हैं। इसी प्रकार नारकी मुझे प्रत्यक्ष है तो तुम को भी प्रत्यक्ष ही है।

वास्तव में, इन्द्रियप्रत्यक्ष सब सच नहीं है। यह एक प्रकार का भ्रम है। इन्द्रियप्रत्यक्ष तो ऊपर से ही प्रत्यक्ष कहा जाता है। सच्चा प्रत्यक्ष तो अतीन्द्रिय ही

है। क्योंकि उसका ज्ञान सीधा आत्मा को ही होता है। जैसे–गवाक्ष स्वयं तो नहीं देख सकता, किन्तु गवाक्ष से सब कुछ देखा जा सकता है; इत्यादि।

इस तरह सर्वज्ञ विभु श्री महावीर भगवान के मुँह से **"न ह वै प्रेत्य नरके नारकाः सन्ति"** इन वेदपदों का सही अर्थ पाकर तथा **'नारकी हैं'** ऐसे प्रभु के युक्तिसंगत सुवचन सुनकर आठवें श्री अकम्पित विप्र-पण्डित का **"नारक है कि नहीं ?"** इस विषय का सन्देह-संशय नष्ट हुआ। **"नारक हैं"** इस सत्य कथन का निश्चय उनके अन्तःकरण में निश्चित हुआ। तत्काल श्री अकम्पित ने अपने सर्वज्ञपने के अभिमान को तिलांजलि दे दी और सच्चे सर्वज्ञ विभु श्री महावीर भगवान का शिष्य बनने का निर्णय किया। उनके साथ में आये हुए तीन सौ शिष्यों ने भी उन्हीं के साथ दीक्षित होने की तैयारी की।

छिन्न सन्देह-संशय वाले ऐसे आठवें श्री अकम्पित अपने तीन सौ छात्रों के साथ प्रभु के पास दीक्षित हुए। दीक्षा पाने के साथ ही उन्होंने भगवान को तीन प्रदक्षिणा-पूर्वक **'भगवन् ! किं तत्त्वम् ?'** इस प्रकार तीन बार पूछा। भगवन्त ने भी क्रमशः **"उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा"** अर्थात्–'सर्व पदार्थ वर्तमान पर्याय रूप में उत्पन्न होते

हैं, पूर्व के पर्याय रूप से नष्ट होते हैं तथा मूल द्रव्य रूप में ध्रुव-नित्य रहते हैं' ऐसा उपदेश दिया ।

इस तरह सर्वज्ञ विभु के वदन-मुँह से **'त्रिपदी'** सुनकर गणधर श्री अकम्पित ने एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में सम्पूर्णपने **'श्रीद्वादशाङ्गी'** की अत्युत्तम-सुन्दर रचना की ।

।। इति श्री गणधरवादे अष्टम गणधर श्री अकम्पित का संक्षिप्त वर्णन ।।

❀ नौवें गणधर श्रीअचलभ्राता ❀

'पुण्य-पाप के विषय में संशय'

पूर्वोक्त श्रीइन्द्रभूति आदि आठ अग्रजों को प्रव्रजित-दीक्षित हुए सुनकर नवमे श्रीअचलभ्राता नामक विप्र-पण्डित ने भी विचार किया कि जिनके श्रीइन्द्रभूति आदि आठ अग्रज विप्र-पण्डित अपने शिष्य-परिवार सहित वहाँ जाकर शिष्य बने, वे मेरे भी पूज्य ही हैं। मैं भी अपने छात्रों के साथ वहाँ शीघ्र जाऊँ और अपने अन्तःकरण में विद्यमान सन्देह-संशय को दूर करूं।

इस तरह विचार करके श्रीअचलभ्राता विप्र-पण्डित भी अपने तीन सौ शिष्यों के साथ सर्वज्ञ प्रभु श्रीमहावीर परमात्मा के पास आये। उसी समय प्रभु ने भी मधुरवाणी में उसके नाम और गोत्र का उच्चारण करते हुए कहा—

"अथ पुण्ये संदिग्धं, द्विजमचलभ्रातरं विबुधमुख्यम् ।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि ? ॥

हे अचलभ्राता ! तेरे अन्तःकरण में यह सन्देह संशय है कि–"**पुण्य (और पाप) है कि नहीं ?**" यह सन्देह-संशय तुझे परस्पर विरुद्ध भासते हुए वेदपदों से हुआ है। "**पुरुष एवेदं ग्नि सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।**" उक्त वेदपदों से तू जानता है कि–पुण्य (और पाप) नहीं है। इन वेदपदों का अर्थ तुम इस प्रकार करते हो कि यह प्रत्यक्ष दिखाता चेतन-अचेतन स्वरूप जो होगा वे सर्व पुरुष ही हैं अर्थात् आत्मा पुण्य-पाप बिना नहीं है। फिर "**पुण्यःपुण्येन कर्मणा, पापः पापेन कर्मणा**" इति। 'पुण्यकर्म यानी शुभकर्म द्वारा प्राणी पुण्यशाली होता है और पापकर्म यानी अशुभकर्म द्वारा प्राणी पापी होता है।' इन वेदपदों से पुण्य-पाप की सत्ता ज्ञात होती है।

इस तरह परस्पर विरुद्ध भासते हुए वेदपदों से तुम सन्देह-संशय में पड़े हो कि, 'पुण्य-पाप हैं कि नहीं ? परन्तु यह तेरा सन्देह-सशय अयुक्त है। क्योंकि–"**पुरुष एवेदं ग्नि सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।**" इसका सच्चा अर्थ इस प्रकार है—'यह प्रत्यक्ष दिखाता हुआ चेतनस्वरूप जो भूतकाल में हुआ और भविष्यकाल में होगा, वे सर्व आत्मा ही हैं।' इन वेदपदों में आत्मा की स्तुति की

गई है, किन्तु इससे पुण्य-पाप नहीं है, ऐसा समझने का नहीं। जैसे **"विष्णुमयं जगत्०"** इत्यादि वेदपदों में समस्त विश्व को विष्णुमय कहा है; परन्तु ये वेदपद विष्णु की महिमा का प्रतिपादन करने वाले हैं। इससे अन्य वस्तुओं का अभाव समझने का नहीं; वैसे जो किया और जो होगा वे सभी आत्मा ही हैं, यह आत्मा की महिमा बताई है। उससे आत्मा बिना पुण्य-पाप नहीं है' ऐसा समझने का नहीं। फिर प्रत्येक प्राणी जो सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, उसका कोई कारण तो अवश्य होना ही चाहिये। क्योंकि कारण बिना कार्य सम्भवता नहीं है। वह कारण पुण्य और पाप है।

सारांश यही है कि–"हे अचलभ्राता! **"पुरुष एवेदं ग्निं सर्वं०"** इस वेदवाक्य को तुम बराबर समझे नहीं हो। तुमको भी इसी पद से श्री अग्निभूति की भांति सन्देह-संशय हुआ है, जो योग्य नहीं है।" जिस तरह श्री अग्निभूति को इन वेदवाक्यों का अर्थ युक्ति से समझाया था, उसी प्रकार इन्हें भी युक्ति से समझाते हुए भगवान बोले– **"पुण्यः पुण्येन कर्मणा, पापः पापेन कर्मणा"** इति। इन वेदपदों से यह सिद्ध होता है कि–'पुण्यकर्म से पुण्य और पापकर्म से पाप प्राप्त होता है।' इससे पुण्य तथा पाप

दोनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। तुम कर्म-क्रिया को विद्यमान तो मानते ही हो फिर यदि कर्म विद्यमान है तो वह सत् है या असत्? पुण्य है या पाप? शुभ है या अशुभ? इन दोनों का योग ही संसार है। इन दोनों में से एक भी न रहे तो संसार अर्थात् 'संसरति पुण्ये वा पापे' और 'संसरणात् मोक्षः' कोई एक भी न रहेगा।" श्री अचलभ्राता विप्र को इस विषय में पुनः सन्देह-संशय होता है और अपनी जिज्ञासा पूर्ण करने हेतु वे पूछते हैं कि "हे प्रभो! पाप का जैसे-जैसे क्षय होता है वैसे-वैसे सुख प्राप्त होता है। पाप का सर्वथा विनाश ही मोक्ष है। यदि ऐसा समझ लिया जाय तो क्या हरकत है? पुण्य की पृथक् सत्ता मानने की आवश्यकता ही क्या है?" प्रभु ने कहा "हे अचलभ्राता! पुण्य का परिणाम सुख है और पाप का परिणाम दुःख है। अतः एक ही वस्तु के दो परिणाम सोचना पूर्णतः अव्यावहारिक है। पाप और पुण्य दोनों ही समवाय स्थिति में रह नहीं सकते। जैसे अमृत और जहर, दूध और दही। दोनों ही समवाय स्थिति में पृथक्-पृथक् सत्ता धारण नहीं कर सकते।" श्री अचलभ्राता बोले—"अब मुझे ज्ञात हो गया है कि पुण्य और पाप ये दोनों पृथक्-पृथक् सत्ता वाले होते हैं और इन दोनों का ही हेतु कर्म है और कर्म का हेतु योग है। यह योग

या तो शुभ होगा या अशुभ होगा, शुभाशुभ हो ही नहीं सकता।"

पुनः सन्देह-संशय व्यक्त करते हुए बोले कि–"यदि पुण्य और पाप दोनों ही स्वतन्त्र हैं तो दोनों का लक्षण क्या है ?" प्रभु ने कहा कि–"जिसका विपाक शुभ हो वह पुण्य है तथा जिसका विपाक अशुभ हो, वह पाप है। पुण्य और पाप दोनों ही पुद्‌गल हैं। जैसे कोई नग्न अंग-शरीर में तेल मर्दनकर बैठ जाय तो उस तेल के प्रमाण से ही शरीर में रजकरण चिपकेंगे। उसी प्रकार से स्निग्ध बने हुए जीव पर राग-द्वेषादि पाप-पुण्य कर्मरूपी रज चिपकती है।"

इस तरह सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर स्वामी के मुँह से **"पुरुष एवेदं ग्निं सर्वं०"** इन वेदपदों का सच्चा अर्थ पाकर तथा 'पुण्य-पाप हैं' ऐसे प्रभु के युक्तिसंगत सुवचन सुनकर नवमे श्री अचलभ्राता विप्र पण्डित का "पुण्य-पाप है कि नहीं ?" इस विषय का सन्देह-संशय नष्ट हुआ। "पुण्य-पाप हैं" इस सत्य कथन का निश्चय अपने अन्तःकरण में निश्चित हुआ। तत्काल श्री अचलभ्राता ने अपने सर्वज्ञपने के अभिमान को तिलांजलि दे दी और सच्चे सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर भगवान का शिष्य बनने का निर्णय

किया। उनके तीन सौ छात्रों ने भी उनके साथ में ही दीक्षित होने का विचार किया।

छिन्न सन्देह-संशय वाले ऐसे नवें श्री अचलभ्राता अपने तीन सौ छात्रों के साथ प्रभु के पास प्रव्रजित-दीक्षित हुए। दीक्षा पाने के साथ ही उन्होंने भगवान की तीन प्रदक्षिणा पूर्वक '**भगवन् ! किं तत्त्वम् ?**' इस प्रकार तीन बार पूछा। भगवन्त ने भी क्रमशः "**उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा**" अर्थात्–'सर्व पदार्थ वर्त्तमान पर्याय रूप में उत्पन्न होते हैं, पूर्व के पर्याय रूप से नष्ट होते हैं तथा मूल द्रव्य रूप में ध्रुव-नित्य रहते हैं।' ऐसा कहा। इस तरह सर्वज्ञ प्रभु के मुँह से '**त्रिपदी**' सुनकर गणधर श्री अचलभ्राता ने एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में सम्पूर्णपने '**श्रीद्वादशाङ्गी**' की अलौकिक-अतिसुन्दर रचना की।

।। इति श्रीगणधरवादे नौवें गणधर श्री अचलभ्राता का संक्षिप्त वर्णन ।।

❀ दसवें गणधर श्रीमेतार्य ❀

'परभव-परलोक का सन्देह-संशय'

पूर्वोक्त श्रीइन्द्रभूति आदि नौ विप्र-पण्डितों को प्रव्रजित-दीक्षित हुए सुनकर दसवें श्रीमेतार्य नामक विप्र-पण्डित ने भी विचार किया कि जिनके श्रीइन्द्रभूति आदि नौ अग्रज द्विज पण्डित अपने शिष्य-परिवार सहित शिष्य बन चुके, वे मेरे भी पूज्य ही हैं। मैं भी अपने विद्यार्थियों सहित वहाँ शीघ्र जाऊँ और अपने हृदय में रहे हुए सन्देह-संशय को दूर करूं।

इस तरह विचार करके श्रीमेतार्य विप्र-पण्डित भी अपने तीनसौ छात्रों के परिवार सहित सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर परमात्मा के पास आये। उसी समय प्रभु ने भी मधुरवाणी में उसके नाम और गोत्र का उच्चारण करते हुए कहा—

"अथ परभवसन्दिग्धं, मेतार्यं नाम पण्डितप्रवरम्।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि? ।।

"हे मेतार्य ? तेरे हृदय में यह सन्देह-संशय है कि– **"परभव-परलोक है कि नहीं ?"** इस प्रकार का सन्देह-संशय तुम को परस्पर विरुद्ध भासते हुए वेदपदों से हुआ है। **"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवाऽनु विनश्यति, न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति।"** उक्त वेदपदों से तू जानता है कि 'परभव-परलोक नहीं है।' इन वेदपदों का अर्थ तुम इस प्रकार से करते हो कि विज्ञान का समुदाय ही पृथिव्यादि पाँच भूतों में से उत्पन्न होकर, पुनः उन भूतों में ही विलय पा जाता है। इसलिये परभव यानी परलोक की संज्ञा ही नहीं है। अर्थात् पृथिव्यादि पाँच भूतों में से चैतन्य उत्पन्न होता है और जब पाँच भूत विनष्ट होते हैं तब चैतन्य भी जल में परपोटा की भाँति उन भूतों में लय हो जाता है। इस तरह चैतन्य यह भूतों का धर्म है तथा भूतों से नष्ट होते ही वह चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। उसे अन्य-दूसरी गति में जाने रूप परभव-परलोक नहीं है परन्तु पुनः **"स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयात्"** अर्थात् स्वर्ग की अभिलाषा करने वाला व्यक्ति अग्निहोत्र होम करे तथा **"नारको वै एष जायते यः शूद्रान्नमश्नाति"** अर्थात् जो विप्र-ब्राह्मण शूद्र का अन्न खाता है वह नारकी होता है। इत्यादि वेदपदों से परभव-परलोक की सत्ता व्यक्त होती है।

क्योंकि जो परभव-परलोक नहीं होता तो अग्निहोत्र करने वाला स्वर्ग में किस तरह जा सकता ? इस प्रकार परस्पर विरुद्ध भासते हुए वेदपदों से तू अपने अन्तःकरण में सन्देह-संशय में पड़ा है कि **'परभव-परलोक है कि नहीं ?** परन्तु हे मेतार्य ! यह तेरा सन्देह-संशय अयुक्त है। कारण कि इन वेदपदों का अर्थ तू बराबर समझा नहीं है।"

ऐसा कह कर इन वेदपदों का सत्य-वास्तविक अर्थ जिस तरह श्री इन्द्रभूति को समझाया था, उसी तरह इधर भी प्रभु ने समझाया कि—"विज्ञानघन एव" अर्थात् ज्ञान एवं दर्शन का उपयोग, वह विज्ञान कहलाता है। उसी विज्ञान का समुदाय रूप आत्मा **"एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय"** ज्ञेयपने अर्थात् जानने योग्यपने को प्राप्त हुए इन पृथ्वी आदि भूतों से या घट-पट इत्यादि भूतों के विकार से 'यह पृथ्वी है, यह घट-घड़ा है, यह पट-वस्त्र है' इत्यादि प्रकारे उन-उन भूतों के उपयोग रूप में उत्पन्न होकर **"तान्येवाऽनु-विनश्यति"** अर्थात् उन घट इत्यादि भूतों के ज्ञेयपने का अभाव हो जाने के बाद ही आत्मा भी उन्हीं के उपयोग रूप में विनाश को प्राप्त होता है और अन्य पदार्थ के उपयोग रूप में उत्पन्न होता है अथवा सामान्य स्वरूप में

रहता है। उसे "**न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति**" अर्थात् इस तरह पूर्व के उपयोग रूप में आत्मा न रहने से वह पूर्व के उपयोग रूप संज्ञा नहीं रहती है। इन वेदपदों से घटादि भूतों की अपेक्षा आत्मा के उपयोग की उत्पत्ति और विनाश सूचित होता है, किन्तु इससे भूतों में से चैतन्य उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं समझना। चैतन्य भूतों का धर्म नहीं है, किन्तु आत्मा का ही धर्म है। आत्मा द्रव्य रूप में नित्य है और वह आत्मा परभव-परलोक में जा सकता है तथा परभव-परलोक से आ सकता है। आत्माएँ अनन्त हैं। जिस आत्मा ने जैसे कार्य किये हैं उसे तदनुसार ही गति मिलती है।

सारांश यह है कि "**परभव-परलोक है कि नहीं ?**" इस प्रकार के सन्देह-संशय वाले श्री मेतार्य विप्र-पण्डित को "विज्ञानघन एव" इन वेदपदों का सच्चा अर्थ समझाते हुए सर्वज्ञ विभु श्री महावीर भगवान ने कहा कि—'हे मेतार्य ! बालक को जन्मते ही स्तनपान की इच्छा होती है और बिना सिखाये वह स्तनपान करता है, यह सभी जानते हैं। वासना के बिना इच्छा नहीं होती तथा अभ्यास के बिना क्रिया आती नहीं। अतः वासना तथा क्रिया का शिक्षण जीव को पूर्व भव में ही प्राप्त हो चुका

होता है। फिर पूर्व भव की सत्ता न हो तो जीवों का जो वैचित्र्य है वह घटित नहीं हो सकता। क्योंकि बिना हेतु के कार्य को उत्पत्ति नहीं होती। संसार में वैचित्र्य एक ही माता की कुक्षि-उदर से जन्म पाने वाली सन्तानों में भी दिखाई देता है। इसका कारण भी पूर्व जन्म का अनुबन्धन है तथा जहाँ अनुबन्धन है तो पूर्वभव-परलोक भी है और इसी प्रकार पूर्वभव-परलोक का भी पूर्वभव, उसका भी पूर्वभव इस प्रकार भवभवान्तर अनन्त भव हैं।

मतिज्ञान के भेदों के अन्तर्गत आया हुआ जातिस्मरण ज्ञान भी पूर्व भव को सिद्ध करता है। इस तरह सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर भगवान के मुँह से "विज्ञान घन एव०" इन वेदपदों का सच्चा अर्थ पाकर तथा "परभव-परलोक है" ऐसे प्रभु के युक्तिसंगत सुवचन सुनकर दसवें श्रीमेतार्य विप्र-पण्डित का "परभव-परलोक है कि नहीं?" इस विषय का सन्देह-संशय नष्ट हुआ। "परभव-परलोक है" इस सत्य-कथन का निश्चय अपने अन्तःकरण में निश्चित हुआ।

तत्काल श्रीमेतार्य विप्र ने अपने सर्वज्ञपने के अभिमान को तिलांजलि दे दी और सच्चे सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर परमात्मा का शिष्य बनने का निर्णय किया। उनके

तीन सौ छात्रों ने भी उनके साथ में ही दीक्षित होने की तैयारी की ।

छिन्न सन्देह-संशय वाले ऐसे दसवें श्रीमेतार्य विप्र अपने तीन सौ छात्रों के साथ प्रभु के पास प्रव्रजित-दीक्षित हुए । दीक्षा पाने के साथ ही उन्होंने भगवान को तीन प्रदक्षिणा पूर्वक '**भगवन् ! किं तत्त्वम्** ?' इस प्रकार तीन बार पूछा । भगवन्त ने भी क्रमश: "**उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा**" अर्थात्–'सर्व पदार्थ वर्त्तमान पर्याय रूप में उत्पन्न होते हैं, पूर्व के पर्याय रूप से नष्ट होते हैं तथा मूल द्रव्य रूप में ध्रुव-नित्य रहते हैं ।' ऐसा उपदेश दिया । इस तरह सर्वज्ञ प्रभु के मुँह से '**त्रिपदी**' सुनकर गणधर श्रीमेतार्य ने '**श्रीद्वादशाङ्गी**' की अद्भुत एवं अतिसुन्दर रचना की ।

।। इति श्रीगणधरवादे दसवें गणधर श्रीमेतार्य का संक्षिप्त वर्णन ।।

❀ ग्यारहवें गणधर श्रीप्रभास ❀

'मोक्ष का सन्देह-संशय'

पूर्वोक्त प्रथम श्रीइन्द्रभूति से लेकर यावत् दशम श्रीमेतार्य पर्यन्त दसों विप्र पण्डितों को प्रव्रजित-दीक्षित सुनकर ग्यारहवें श्रीप्रभास नामक विप्र पण्डित ने भी विचार किया कि जिनके श्रीइन्द्रभूति आदि दसों अग्रज द्विज पण्डित अपने शिष्य परिवार सहित उनके शिष्य बने, वे मेरे भी पूज्य हैं। मैं भी अपने शिष्यों सहित वहाँ जाऊँ और अपने हृदय में विद्यमान सन्देह-संशय को दूर करूँ।

इस तरह विचार करके श्रीप्रभास विप्र पण्डित भी अपने तीन सौ छात्रों के परिवार सहित सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर भगवान के पास आये। उसी समय प्रभु ने भी मधुरवाणी में उसके नाम और गोत्र का उच्चारण करते हुए कहा कि—

"निर्वाणविषयसन्देह-संयुतं च प्रभासनामानम्।
ऊचे विभुर्यथास्थं, वेदार्थं किं न भावयसि? ॥"

"हे प्रभास ! तेरे अन्तःकरण में यह सन्देह-संशय है कि–"**निर्वाण यानी मोक्ष है कि नहीं ?**" इस प्रकार का सन्देह-संशय तुम को परस्पर विरुद्ध भासते हुए वेदपदों से हुआ है । "**जरामर्यं वा यदग्निहोत्रम् ।**" उक्त वेदपदों से तू जानता है कि–"**मोक्ष नहीं है ।**" इन वेदपदों का अर्थ तुम इस प्रकार से करते हो कि जो अग्निहोत्र होम व '**जरामर्यं**' यानी यावज्जीव सर्वदा करने योग्य है अर्थात् अग्निहोत्र की क्रिया जीवन पर्यंत करनी । इससे 'अग्निहोत्र' की नित्य कर्त्तव्यता सिद्ध की है । फिर अग्निहोत्र की क्रिया निर्वाण-मोक्ष का कारण नहीं बन सकती । कारण कि वह क्रिया 'शबल' है । अर्थात् कितनेक जीवों के वध का कारण और कितनेक जीवों के उपकार का कारण होने से दोष मिश्रित है । इसलिये अग्निहोत्र करने वाले को स्वर्ग मिलता है, मोक्ष नहीं मिल सकता । इस तरह सिर्फ स्वर्गरूप ही फल देने वाली क्रिया को जीवन पर्यन्त करने का कहने से मोक्षरूप फल देने वाली क्रिया करने का काल नहीं रहता । क्योंकि जीवन भर अग्निहोत्र करने वाले को ऐसा कौनसा काल बाकी रहा कि जिस काल में वह मोक्ष के हेतुभूत क्रिया कर सके ? इससे मोक्ष साधने वाली क्रिया का काल नहीं कहने से ज्ञात होता है कि मोक्ष नहीं है ।

सारांश यह है कि अग्निहोत्र की क्रिया मुक्ति का कारण नहीं बनती और यह क्रिया सर्वदा करने के लिये प्रतिपादित की गई है। इससे मोक्षसाधक क्रिया करने का काल ही जीवन में शेष न रहा। इससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होता है। इसलिये तुझे लगता है कि मोक्ष नहीं है। पुनः वेद में आए हुए–**"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये, परमपरं च, तत्र परं सत्यज्ञानं, अनन्तरं ब्रह्मेति"**। **'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये'**–दो ब्रह्म जानना, **'परम् अपरं च'**–एक पर और दूसरा अपर। **'तत्र परं सत्यज्ञानम्'**–उनमें पर सत्य है, **'अनन्तरं ब्रह्मेति'** और अनन्तर ब्रह्म यानी मोक्ष है। अर्थात् दो ब्रह्म जानने योग्य हैं। उसमें एक पर और एक अपर। सत्यज्ञान यह परब्रह्म है और वह पीछे का अपर ब्रह्म है। ऐसे अर्थ वाले इन वेदपदों से तेरे अन्तःकरण में **'मोक्ष है'** ऐसी भी प्रतीति होती है तथा **"सैषा गुहा दुःखगाहा"** अर्थात् संसार में आसक्त ऐसे प्राणियों को यह मोक्ष रूपी गुफा दुःखगाह है। अर्थात् प्रवेश न हो सके, ऐसी है। इत्यादि वेदपदों से मोक्ष की सत्ता व्यक्त होती है। इस तरह परस्पर विरुद्ध भासते हुए वेदपदों से तुम सन्देह-संशय में पड़े हो कि **'मोक्ष है कि नहीं ?'**

परन्तु हे प्रभास ! तेरा यह सन्देह-संशय अयुक्त है। क्योंकि **"जरामर्यं वा यदग्निहोत्रम्"** इन वेदपदों का अर्थ तुमने बराबर नहीं समझा है। इन वेदपदों में जो **'वा'** शब्द है वह अपि यानी 'पण' अर्थ वाला है। इन वेदपदों का अर्थ ऐसा होता है कि 'यावज्जीव' अर्थात् जीवन पर्यन्त भी अग्निहोत्र होम करना। अर्थात् जो कोई स्वर्ग का अर्थी हो उसे जीवन पर्यन्त भी अग्निहोत्र करना चाहिए और जो कोई मोक्ष का अर्थी हो उसे अग्निहोत्र छोड़कर मोक्षसाधक क्रिया भी करनी चाहिए। किन्तु प्रत्येक प्राणी को अग्निहोत्र ही करना, ऐसा नियम नहीं है। इस तरह निर्वाण-मोक्षसाधक अनुष्ठान-क्रिया करने का काल भी वेद के इन पदों ने कहा ही है। इससे निर्वाण यानी मोक्ष ही है। शुद्ध ज्ञान, दर्शन और चारित्र द्वारा कर्म का क्षय होता है तथा आत्मा के कर्म का क्षय होना यही मोक्ष है।

सारांश यह है कि **"निर्वाण-मोक्ष है कि नहीं ?"** इस सन्देह-संशय वाले मात्र सोलह वर्ष के बालपण्डित प्रभास को सर्वज्ञ प्रभु श्री महावीर परमात्मा ने कहा कि "हे प्रभास ! **"जरामर्यं वा यदग्निहोत्रम्"** इन वेदपदों का अर्थ तुम यह करते हो कि जरा-वृद्धत्व और मरण

पर्यन्त यावज्जीव यज्ञ क्रिया करे, तो इससे यह सिद्ध होता है कि यज्ञ के कर्म को भोगने के लिये पुनर्भव होगा ही, फिर मोक्ष नहीं होता। किन्तु इसके लिये वेद में पुनः अन्य पद भी हैं कि–"**द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये, परमपरं च, तत्र परं सत्यज्ञानं, अनन्तरं ब्रह्म**" इति। यह वेदवाक्य मोक्ष की विद्यमानता को प्रतिपादित करता है। इससे यह व्यञ्जित होता है कि स्वर्ग का इच्छुक जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करे तथा 'वा' अर्थापत्ति से मोक्षार्थी स्वर्ग की इच्छा छोड़कर परब्रह्म-मोक्ष की उपासना करे।

यहाँ प्रभास पुनः शंका करते हुए पूछते हैं कि प्रभो! इस अनादि संसार का विनाश कैसे होता है? "यह प्रश्न ही मूल रूप से भ्रमात्मक है, क्योंकि द्रव्य रूप से अनादि का विनाश नहीं होता। किन्तु पर्याय से अनादि का विनाश होता है। जैसे कि मनुष्य का वंश अनादि है। पिता के बिना पुत्र की उत्पत्ति नहीं होती। फिर भी प्रत्येक के पुत्र हो ही, ऐसा नहीं है। किसी का वंश बिना पुत्र के अटक भी जाता है। तो इसी तरह संसार भी संसरणशील है, अनादि है। पुनः 'अभव्य' और 'जाति-भव्य' बिना जो है उनका संसार कभी अटकने वाला नहीं है। किन्तु भव्यों के काल, स्वभाव, पुरुषार्थ, कर्म और

भवितव्यता रूप पाँच हेतुओं का परिपाक होते ही अटक जाता है। पूर्व में अनन्त भव्य मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं तथा भविष्य में भी अनन्त भव्य मोक्ष प्राप्त करेंगे।"

पुनः प्रभास पण्डित अपने सन्देह-संशय को व्यक्त करते हुए प्रश्न करते हैं—"मुक्त आत्माओं को परमज्ञान और उनमें सर्व दुःखों का अभाव क्यों होता है ?" प्रभु ने कहा—"ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा के साथ है। इन्द्रियों का सम्बन्ध आत्मा के साथ नहीं है। कारण यह है कि ज्ञान आत्मा का गुण है। जिस प्रकार परमाणु रूपादि रहित नहीं होते, उसी प्रकार आत्मा ज्ञान रहित नहीं होती। आत्मा चैतन्यवान ज्ञानवान है। संसारी आत्माओं के समस्त कर्मों के आवरण नष्ट होने से मुक्त आत्मा परमज्ञान वाले होते हैं तथा बाधा एवं पीड़ा का कहीं नाम निशान नहीं होने से सर्वदा वे अव्याबाध हैं।"

पुनः प्रभास पण्डित अपने सन्देह-संशय को व्यक्त करते हुए बोले—"हे भगवन्त ! सारे कर्मों का विनाश होने पर पुण्य-पाप का भी विनाश होगा, फिर सुख कहाँ से ? फिर सुख-दुःख का आधार तो देह है और मुक्त सुख और दुःख कुछ भी नहीं है तो फिर इन्द्रिय के अभाव में सुख और दुःख कैसा ?" पुनः प्रभु ने कहा कि—"हे प्रभास !

तू पुण्य के फल को सुख कहता है। यही तुम्हारा भ्रम है। वस्तुतः पुण्य का फल भी दुःख ही है। क्योंकि उसमें भी कर्म का उदय तो है ही। तो जो कर्मजन्य है उसमें दुःख होगा ही। संसार जिसे सुख कहता है वह एक जाति का व्याधि-प्रतिकार है। जैसे—किसी को मीठी खुजली चले। उसे खुजलाते समय आनन्द होता है, किन्तु बाद में वही व्याधिजन्य है। वास्तव में तो वह दुःख ही है, सुख का तो मात्र आभास है। अविवेक के कारण ही सांसारिक सुख को जीव सुखाभास मानता है। जबकि मोक्ष में जीव निरंजन निराकार सद्चिदानंद आत्मा स्वरूप में सदा मग्न रहता है। वहाँ किसी पुद्गल का संग नहीं रहता। अतः मोक्ष का सुख सर्वदा शाश्वत सहज स्वाभाविक अनंत और सम्पूर्ण है, जिसमें दुःख का अंशमात्र भी नहीं है। इससे **'निर्वाण-मोक्ष है'** इस प्रकार का कथन सर्वदा सिद्ध ही है तथा उसका मार्ग उपादेय है।"

प्रभु के इस प्रकार युक्तियुक्त सुवचनों से अपनी सम्पूर्ण शंका के निर्मूल होने पर प्रभास पण्डित ने भी **"निर्वाण-मोक्ष है"** इस सत्य कथन का निश्चय अपने अन्तःकरण में किया। तत्काल लघुवय वाले श्रीप्रभास

विप्र पण्डित ने अपने सर्वज्ञपने के अभिमान को तिलांजलि दी और सच्चे सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर भगवान का शिष्य बनने का निर्णय किया। उनके तीन सौ छात्रों ने भी उनके साथ में ही दीक्षित होने की तैयारी की।

छिन्न सन्देह-संशय वाले ऐसे ग्यारहवें श्रीप्रभास विप्र भी अपने तीन सौ शिष्यों के साथ प्रभु के पास प्रव्रजित-दीक्षित हुए। दीक्षा पाने के साथ ही उन्होंने प्रभु की तीन प्रदक्षिणा पूर्वक '**भगवन् ! किं तत्त्वम् ?**' इस प्रकार तीन बार पूछा। भगवन्त ने भी क्रमशः "**उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा**" अर्थात्—सर्व पदार्थ वर्त्तमान पर्याय रूप में उत्पन्न होते हैं, पूर्व के पर्याय रूप से नष्ट होते हैं तथा मूल द्रव्य रूप में ध्रुव-नित्य रहते हैं। ऐसा उपदेश दिया।

इस तरह सर्वज्ञ विभु श्रीमहावीर परमात्मा के मुँह से '**त्रिपदी**' सुनकर गणधर श्रीप्रभास ने एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में सम्पूर्णपने '**श्रीद्वादशाङ्गी**' की अलौकिक-अत्युत्तम-अनुपम रचना की।

।। इति श्री गणधरवादे ग्यारहवें गणधर श्री प्रभास का संक्षिप्त वर्णन ।।

इस प्रकार गौतम गोत्र वाले पहले श्रीइन्द्रभूति से लेकर ग्यारहवें श्रीप्रभास पर्यन्त ग्यारह विप्र पण्डितों ने अपने चार हजार चार सौ शिष्यों सहित सर्वज्ञ विभु श्री महावीर भगवान के पास पारमेश्वरी प्रव्रज्या-भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली। अर्थात् कुल ४४११ ब्राह्मणों ने दीक्षा ग्रहण की। उनमें मुख्य ग्यारह विप्र पण्डित श्रमण भगवान महावीर परमात्मा के शिष्य बने। ये ग्यारह विद्वान् पण्डित सच्चे सर्वज्ञ श्री महावीर भगवान का शिष्यपना प्राप्तकर तत्काल ही तत्त्व जानने के अर्थी बने। ग्यारहों ही दीक्षित विप्र मुनिवर पुनः प्रभु को वन्दन कर विनयपूर्वक "भयवं किं तत्तं?" **—'भगवन् तत्त्व क्या है?'** ऐसा प्रश्न तीन बार पूछते हैं। विश्ववंद्य विश्वविभु सर्वज्ञ श्री महावीर भगवन्त एक-एक बार के प्रश्न के प्रत्युत्तर में क्रमशः **"उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा"**–'सर्व पदार्थ वर्त्तमान पर्याय रूप में उत्पन्न होते हैं, पूर्व के पर्याय रूप से नष्ट होते हैं तथा मूल द्रव्य रूप में ध्रुव-नित्य रहते हैं' अर्थात्—जगत् उत्पन्न होता है, नष्ट होता है तथा ध्रुव रहता है; ऐसा उपदेश देते हैं। इस विश्व के समस्त पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश स्वभाव वाले हैं। ऐसा श्रीइन्द्रभूत्यादि ग्यारह गणधरों ने बराबर समझ लिया।

इन पर चिन्तन-मनन करने में सर्वज्ञ प्रभु श्री महावीर भगवान के मुख से उच्चारित ये प्रत्युत्तर, अपने पूर्वभव में उपार्जित गणधर नामकर्म का पुण्योदय तथा औत्पातिकी आदि बुद्धि इत्यादि विशिष्ट कारणों के संमिलन से उनके ज्ञानावरणीय कर्म का जबरदस्त भारी क्षयोपशम हुआ। अर्थात्–पूर्वकी की हुई धर्म की उत्तम आराधना के बल से तथा **'त्रिपदी'** प्राप्त करने के योग से छद्मस्थावस्था में जितने श्रुतज्ञान की सम्भावना हो सकती थी उतना सम्पूर्ण श्रुतज्ञान मात्र एक अन्तर्मुहूर्त्त में ही श्रीइन्द्रभूत्यादि ग्यारहों की आत्मा में प्रगट हो गया। इसके बल से इन ग्यारह गणधरों ने एक अन्तर्मुहूर्त्त में ही द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान की रचना की। अर्थात् सम्पूर्ण **'द्वादशाङ्गी'** की रचना की। वही द्वादशाङ्गी आगम है, उसी के अन्तर्गत चौदह पूर्वों की रचना जाननी। उसी समय भगवान भी ग्यारह जनों को द्वादशाङ्ग श्रुत की अनुज्ञा देने के लिये तथा गणधर पद पर स्थापित करने के लिये तैयार हुए। उस समय श्रीशक्रेन्द्र दिव्य चूर्ण से भरे हुए वज्रमय थाल को लेकर आया और प्रभु के पास खड़ा रहा। ये ग्यारह गणधर भी विनयपूर्वक प्रभु के पास आकर अपना मस्तक नमाकर और अञ्जलि जोड़कर क्रमशः खड़े रहे। बाद में भगवान सिंहासन से खड़े होकर श्रीशक्रेन्द्र महाराजा

द्वारा अपने सम्मुख दोनों करों द्वारा धरे हुए वज्र के थाल में से चूर्ण मुष्टि ग्रहण करते हैं। इस वक्त देवता दिव्य वाजिन्त्रनाद तथा गीत-गानादि बन्द करते हैं। इससे वहाँ पर सम्पूर्ण मौन छा जाता है। भगवन्त, श्रीइन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों को द्रव्य, गुण और पर्याय का प्रतिपादन करने वाला, तीर्थ के योग्य जीवों को प्राप्त कराने वाली अनुज्ञा करते हुए उस दिव्य चूर्ण को क्रमशः ग्यारह गणधरों के मस्तक पर डालते हैं। उसी समय देवता भी चूर्ण, पुष्प और गन्ध आदि की वृष्टि उन ग्यारह गणधर भगवन्तों पर करते हैं। बाद में ग्यारह गणधरों में दीर्घायुषी अर्थात् सबसे विशेष आयुष्यवन्त श्री सुधर्मा स्वामीजी होने से उन्हीं को भगवन्त ने समस्त मुनिगण की अनुज्ञा की। अर्थात् प्रभु ने श्री सुधर्मास्वामी को मुनि समुदाय में अग्रेसर स्थापित कर उन्हीं को गण की अनुज्ञा दी।

प्रथम गणधर श्रीइन्द्रभूति मुख्य रूप में रहे और पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामीजी दीर्घायुषी होने से सर्व साधु-समुदाय के कर्णधार बने।

(वर्त्तमान काल में श्री महावीरस्वामी भगवन्त के

शासन में पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी की पट्ट परम्परा चल रही है और भविष्य में भी चलेगी)।

इस प्रकार श्रीइन्द्रभूति आदि ग्यारहों ही गणधर सर्वज्ञ विभु श्री महावीरस्वामी भगवन्त के शिष्यरत्न बने और विश्व में महान् महर्षि हुए। उनमें श्रीअग्निभूति आदि नौ गणधरों ने तो भगवान की विद्यमानता में ही केवलज्ञान प्राप्त किया और अन्त में सकल कर्म का क्षय करके वे मोक्ष में पधारे और वहाँ शाश्वत सुख के भागी बने। श्रीइन्द्रभूति और श्री सुधर्मास्वामी दोनों गणधर भगवन्त प्रभु के निर्वाण बाद मोक्ष में पधारे और शाश्वत सुख के अधीश्वर बने।

॥ इति श्री गणधरवाद ॥

उपसंहार

इस प्रकार आलेखन किये हुए इस पवित्र 'गणधरवाद' ग्रन्थ का श्रवण, चिन्तन और मनन कर सभी धर्मी जीव धर्मात्मा, सर्वज्ञ विभु भाषित श्री जैनधर्म के, जैनदर्शन के, जैनसिद्धान्त-शास्त्र के अद्वितीय-अलौकिक-अनुपम तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर आत्मा का कल्याण करने वाले हों। इसी हार्दिक शुभेच्छा के साथ, इस आलेखित लेख में मेरे मतिमन्दतादिक कारणों से श्री जिनाज्ञा के विरुद्ध जानते या अजानते कुछ भी मेरे द्वारा लिखा गया हो तो उसके लिए मन-वचन-काया से मैं **'मिच्छामि दुक्कडं'** देता हुआ विराम पाता हूँ।

'जैनं जयति शासनम्'।

卐

लेखक

शासनसम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्त्ति-तपोगच्छाधिपति-महान्-प्रभावशालि-श्रीकदम्बगिरि आदि अनेक तीर्थोद्धारक-परम-पूज्याचार्यमहाराजाधिराज **श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरजी म. सा.** के दिव्यपट्टालंकार-साहित्यसम्राट्-व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्न-परमपूज्याचार्यप्रवर **श्रीमद्विजय-लावण्यसूरीश्वरजी म. सा.** के प्रधानपट्टधर-धर्मप्रभावक-शास्त्रविशारद-कविदिवाकर-व्याकरणरत्न-देशनादक्ष- परम-पूज्याचार्यवर्य **श्रीमद्विजयदक्षसूरीश्वरजी म. सा.** के सुप्रसिद्धपट्टधर-जैनधर्मदिवाकर-राजस्थानदीपक-मरुधरदेशोद्धारक - शास्त्रविशारद - साहित्यरत्न - **आचार्यश्रीमद्विजय-सुशीलसूरि ।**

श्रीवीर सं. २५१३
विक्रम सं २०४३
नेमि सं. ३८
वैशाख सुद १५
बुधवार
दिनांक १३-५-१९८७

स्थल–

नूतन श्री जैन
उपाश्रय
तखतगढ़
राजस्थान

॥ शुभं भवतु श्रीसंघस्य ॥

अनुपम शासन प्रभावना

१

राजस्थान-मारवाड़ के **बालीनगर** में विक्रम संवत् २०४२ के वर्ष का चातुर्मास शासनप्रभावनापूर्वक पूर्ण करके मागशर (कार्तिक) वद ४ गुरुवार दिनांक २०-११-१९८६ के दिन **कोटगाँव** पधारते हुए जैनधर्म-दिवाकर - राजस्थानदीपक - मरुधरदेशोद्धारक - परमपूज्य **आचार्यदेव श्रीमद् विजयसुशीलसूरीश्वरजी म. सा.** आदि का श्री जैनसंघ ने स्वागत किया। मंगल प्रवचन के बाद प्रभावना की।

२

मुण्डारा गाँव में प्रवेश तथा उपधान तप का प्रारम्भ

(१) वि. सं. २०४३ मागशर (कार्त्तिक) वद ५

शुक्रवार दिनांक २१-११-८६ के दिन कोटगाँव से विहार कर **मुण्डारा गाँव** में उपधान तप के उपलक्ष में पूज्यपाद **आचार्यदेव श्रीमद् विजयसुशीलसूरीश्वरजी म. सा.** ने पूज्य **उपाध्यायश्री विनोदविजयजी गणिवर्य,** पू. **मुनिश्री प्रमोद-वि. म.,** पू. **मुनिश्री शालिभद्र वि. म.,** पू. **मुनिश्री जिनोत्तम वि. म.,** पू. **मुनिश्री अरिहन्त वि. म.** तथा पू. **मुनिश्री रविचन्द्र वि. म.** आदि एवं पू. **साध्वीश्री ललितप्रभाश्रीजी** आदि साध्वीवृन्द सहित स्वागतपूर्वक मंगल प्रवेश किया। मंगल प्रवचन के बाद उपधान कराने वाले शा. बस्तीमल रायचन्दजी मण्डलेशा की ओर से प्रभावना की गई तथा श्री पंचकल्याणक पूजा पढ़ाई गई।

(२) मागशर (कार्त्तिक) वद ९ बुधवार दिनांक २६-११-८६ के दिन परम पूज्य आचार्य म. सा. ने बेन्ड-युक्त चतुर्विध संघ सहित शा. बस्तीमल रायचन्दजी के घर पर पगलां किये। वहाँ मंगल प्रवचन, प्रतिज्ञा एवं ज्ञान-पूजन के बाद एक-एक रुपये की प्रभावना हुई।

(३) मागशर (कार्त्तिक) वद १० गुरुवार दिनांक २७-११-८६ के दिन उपधान कराने वाले शा. बस्तीमल रायचन्दजी की तरफ से उपधान में प्रवेश करने वाले

भाई-बहिनों के अत्तर वायणा हुए तथा मुण्डारा श्रीजैनसंघ का स्वामीवात्सल्य हुआ।

(४) मागशर (कार्त्तिक) वद ११ शुक्रवार दिनांक २८-११-८६ के दिन पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशीलसूरीश्वरजी म. सा. की शुभ निश्रा में शा. बस्तीमल रायचन्दजी की ओर से **श्री उपधान तप** का प्रारम्भ हुआ, जिसमें प्रथम मुहूर्त्त में श्री उपधान तप की आराधना में ८५ भाई-बहिनों ने प्रवेश किया। प्रतिदिन जिनप्रवचन आदि का कार्यक्रम चालू रहा। श्रीसंघ को तथा उपधानवाही भाई-बहिनों आदि को परम पूज्य आचार्य म. सा., पूज्य उपाध्याय श्री विनोद विजयजी गणी म. सा. तथा पूज्य मुनिराज श्री जिनोत्तम विजयजी म. के प्रवचनों का लाभ सुन्दर मिलता रहा।

(५) मागशर (कार्त्तिक) वद १३ शनिवार दिनांक २९-११-८६ के दिन शा. पृथ्वीराज अनराजजी के घर पर प. पू. आ. म. सा. ने चतुर्विध संघ सहित बाजते-गाजते पगलां किये। वहाँ पर ज्ञानपूजन, मांगलिक तथा प्रतिज्ञा के बाद एक-एक रुपये की प्रभावना हुई।

(६) मागशर (कार्त्तिक) वद १४ रविवार दिनांक

३०-११-८६ के दिन द्वितीय मुहूर्त्त में भी भाई-बहिनों ने श्री उपधान तप की आराधना में प्रवेश किया।

(७) मागशर सुद ५ शुक्रवार दिनांक ५-१२-८६ के दिन मुण्डारा में परम पूज्य आचार्य श्री कंचनसागर-सूरिजी म. सा. आदि पधारते हुए। दोनों पूज्यपाद आचार्य म. सा. का सुभग सम्मिलन होने से श्रीसंघ के आनन्द में अभिवृद्धि हुई।

(८) मागशर सुद ११ गुरुवार दिनांक ११-१२-८६ के दिन पूज्यपाद आचार्य म. सा. की पावन निश्रा में मौन एकादशी की सुन्दर आराधना श्रीसंघ ने की।

(९) मागशर सुद (पहली) १३ शनिवार दिनांक १३-१२-८६ के दिन परम पूज्य आचार्यदेव के व्याख्यान में बाली से आये हुए एक सद्गृहस्थ ने संघपूजा की।

(१०) मागशर सुद (दूसरी) १३ शनिवार दिनांक १४-१२-८६ के दिन शा. चम्पालाल करमचन्द सोनींगरा ने श्री वर्द्धमान तप की ५१, ५२, ५३ ये तीन ओली एक साथ में की थी। उनके पारणा के प्रसंग पर पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. ने चतुर्विध संघ समेत बाजते-गाजते उन्हीं के घर पर पगलां

किये। वहाँ पर ज्ञानपूजन तथा मंगल प्रवचन के बाद संघपूजा हुई।

(११) मागशर सुद १४ सोमवार दिनांक १५-१२-८६ के दिन अहमदाबाद-पांजरापोल के तीर्थ-यात्रा में आये हुए भाई-बहिन परम पूज्य आचार्य म. सा. की वन्दनार्थ आए। शाम को प्रतिक्रमण में दोनों स्थलों में एक-एक रुपये की प्रभावना हुई।

(१२) श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ प्रभु के अट्ठम तप की आराधना का प्रारम्भ पौष (मागशर) वद ९ गुरुवार दिनांक २५-१२-८६ के दिन से श्रीसंघ में हुआ। ९, १०, ११ तीनों दिन प्रभावना युक्त पूजा पढ़ाने का कार्यक्रम तथा १२ दिन के तपस्वियों को एकासणे से क्षीर का पारणा कराने का लाभ मुण्डारा निवासी शा. जवान-मलजी भीखमचन्दजी ने लिया।

(१३) पौष (मागशर) वद १० शुक्रवार दिनांक २६-१२-८६ के दिन सिरोही में शासनसम्राट् परम-पूज्याचार्य महाराजाधिराज **श्रीमद् विजय नेमि सूरीश्वर जी म. सा.** के पट्टालंकार साहित्यसम्राट् परमपूज्याचार्य-प्रवर **श्रीमद् विजय लावण्य सूरीश्वरजी म.सा.** के पट्टधर-संयमवयस्थविर-निस्पृही-सुसंयमी पूज्य **उपाध्याय श्री**

चन्दन विजयजी गणीन्द्र म. सा. शाम को समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त हुए। उनका समाचार आने के साथ परम पूज्य आचार्य म. सा. आदि ने संघ सहित देववन्दन ११ के दिन किया तथा प. पू. आ. म. सा. की प्रेरणा से **स्वर्गीय पूज्य उपाध्यायजी म. सा.** के आत्मश्रेयार्थे श्रीसंघ की ओर से पौष (मागशर) वद १४ मंगलवार दिनांक ३०-१२-८६ के दिन से 'नवाह्निका महोत्सव' का प्रारम्भ हुआ। प्रतिदिन पूजा-प्रभावना-आंगी-रोशनी आदि का कार्यक्रम चालू रहा।

पौष सुद ६ सोमवार दिनांक ५-१-८७ के दिन **'श्री भक्तामर महापूजन'** विधिपूर्वक पढ़ाया गया तथा पौष सुद ८ बुधवार दिनांक ७-१-८७ के दिन पूजा पढ़ा करके नवाह्निका-महोत्सव की पूर्णाहुति की।

(१४) पौष सुद ६ गुरुवार दिनांक ८-१-८७ के दिन से उपधान कराने वाले शा. बस्तीमल रायचन्दजी मण्डलेशा की ओर से श्री उपधान तप मालारोपण का तीन पूजन युक्त अष्टाह्निका-महोत्सव का प्रारम्भ हुआ। साथ में २३ छोड़ का भव्य उद्यापन भी सामुदायिक श्रीसंघ की ओर से रखा गया। प्रतिदिन पूजा-प्रभावना-आंगी-रोशनी तथा रात को भावना का कार्यक्रम चालू रहा। ग्यारस

के दिन श्री सिद्धचक्रमहापूजन, बारस के दिन श्रीऋषिमण्डलमहापूजन, तेरस के दिन बृहद् श्री अष्टोत्तरीस्नात्र विधिपूर्वक सुन्दर पढ़ाया गया। चौदस के दिन श्री उपधान तप मालारोपण का शानदार वरघोड़ा निकाला गया। उसमें दो रथ, दो इन्द्रध्वज, तीन हाथी, घोड़े और दो बेन्ड तथा उपधानवाहियों को विधिपूर्वक पहनाने की अनेक मालाओं के थाल इत्यादि शोभा दे रहे थे। उसी दिन सार्धमिकवात्सल्य भी था। विधिकारक श्री मोतीलालजी बिजोवा वाले ने पूजनविधि अच्छी करवाई थी और संगीतकार श्री अशोककुमार गेमावत बाली वाले ने पूजा और भावना में प्रभु भक्ति का रंग अच्छा जमाया था।

(१५) पौष सुद १५ गुरुवार दिनांक १५-१-८७ के दिन सदा सूरिमन्त्रसमाराधक - मरुधरदेशोद्धारक-शास्त्रविशारद-पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. की पावन निश्रा में ११ वर्ष से लेकर ८० वर्ष की उम्र के ८५ आराधक महानुभावों में से प्रथम उपधान वाले ५१ आराधकों के विधिपूर्वक मालारोपण का अनूठा प्रसंग नाण समक्ष विशाल जैन-जैनेतर जनता की उपस्थिति में शासनप्रभावनापूर्वक सुन्दर उजवाया। उनमें

प्रथम माला पहनने का लाभ मुण्डारा निवासी शा. जोरावरमलजी मेहता की धर्मपत्नी को मिला। इस प्रसंग पर उपधान कराने वाले शा. बस्तीमल रायचन्दजी मण्डलेशा ने तथा उनकी धर्मपत्नी ने चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रत भी विधिपूर्वक उच्चरा। उनकी ओर से साधर्मिकवात्सल्य आज भी हुआ और **'अष्टाह्निका-महोत्सव'** शासन-प्रभावनापूर्वक निर्विघ्न परिपूर्ण हुआ।

(१६) महा (पौष) वद १ शुक्रवार दिनांक १६-१-८७ के दिन राजस्थान-दीपक परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. के पशु चिकित्सालय में पुनीत पगलां हुए, विशेष स्थान में खातमुहूर्त्त हुआ तथा पूज्यश्री का मांगलिक प्रवचन हुआ। बाद में मुण्डारा की स्कूल के विशाल प्रांगण में पूज्यपाद आचार्य म. सा. का **'जाहेर प्रवचन'** हुआ। शा. जोरावरमलजी मेहता आदि तीन सद्गृहस्थों के घर पर चतुर्विध संघ के साथ पूज्य गुरुदेव आचार्य म. सा. के पगलियाँ हुए। तीनों ही स्थलों पर ज्ञानपूजन एवं मंगल प्रवचन के पश्चात् प्रभावना हुई।

३

- महा (पौष) वद २ शनिवार दिनांक १७-१-८७ के

दिन पूज्यपाद आचार्य म. सा. सपरिवार मुण्डारा से विहार कर **मादा गाँव** में पधारे। वहाँ पर मुण्डारा वाले एक सद्गृहस्थ की तरफ से जिनमन्दिर में पूजा पढ़ाई गई तथा स्वामीवात्सल्य भी हुआ। शाम को पूज्यश्री सपरिवार सादड़ी पधार गये।

• महा (पौष) वद ३ रविवार दिनांक १८-१-८७ के दिन प्रातः विहार द्वारा प. पू. आचार्यदेव सपरिवार श्री राणकपुर-तीर्थ की यात्रा करके पुनः शाम को सादड़ी पधारे।

• महा (पौष) वद ४ सोमवार दिनांक १९-१-८७ के दिन प्रातः सादड़ी से विहार द्वारा पूज्यपाद आचार्य म. सा. सपरिवार **राजपरा गाँव** में पधारे। वहाँ पर सादड़ी से आये हुए सेठ श्री आणंदजी कल्याणजी की पेढ़ी के मुनीम तथा अन्य सद्गृहस्थों को तीर्थप्रभावक परम पूज्य आचार्य म. सा. ने श्री शान्तिनाथ जिनमन्दिर के कार्य अंगे मार्ग-दर्शन किया। मध्याह्न के बाद वहाँ से विहार द्वारा पू. आचार्य म. श्री आदि घाणेराव-कीर्त्तिस्तम्भ स्थल में शाम तक पधार गये।

• महा (पौष) वद ५ मंगलवार दिनांक २०-१-८७ के दिन **देसुरी** पधारे।

• महा (पौष) वद ६ बुधवार दिनांक २१-१-८७ के दिन सुबह्म देसुरी से विहार किया और **सुमेरतीर्थ** में जिनमन्दिर में दर्शनादि किये। बाद में विहार द्वारा **बागोल गाँव** में पधारते हुए परम पूज्य आचार्य म. सा. आदि का श्रीसंघ ने ढोल-थाली युक्त स्वागत किया। व्याख्यान के बाद शा. रतनचन्द दलीचन्दजी कोठारी के घर पर चतुर्विध संघ सहित पूज्यपाद आ. म. सा. पधारे। वहाँ पर ज्ञानपूजन एवं मांगलिक के बाद संघपूजा हुई।

• महा (पौष) वद ७ गुरुवार दिनांक २२-१-८७ के दिन बागोल से **डायलाना गाँव** विहार द्वारा पधारते हुए पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि का श्रीसंघ ने बेन्ड आदि युक्त भव्य स्वागत किया तथा व्याख्यान के बाद प्रभावना भी की। स्कूल में भी पूज्यपाद आ. म. सा. का प्रभावशाली प्रवचन हुआ। श्री शान्तिनाथजिनमन्दिर के सामने बने हुए नूतन जिनमन्दिर के सम्बन्ध में पूज्यपादश्री ने श्रीसंघ को मार्गदर्शन दिया।

• महा (पौष) वद ८ शुक्रवार दिनांक २३-१-८७ के दिन डायलाना से विहार द्वारा **सेवाखिमाड़ा गाँव** में पधारते हुए परम पूज्य आचार्य म. सा. आदि का स्वागत श्रीसंघ ने बेन्ड आदि युक्त किया तथा व्याख्यान के बाद

प्रभावना भी की। शाम को पूज्यपादश्री अपने मुनि-परिवार सहित **देवली गाँव** पधारे।

• महा (पौष) वद ९ शनिवार दिनांक २४-१-८७ के दिन देवली गाँव से विहार द्वारा पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि **आउवा गाँव** में पधारे। वहाँ पर प्रवचन के बाद श्रीसंघ को जिनमन्दिर के कार्य अंगे मार्गदर्शन दिया।

• महा (पौष) वद १० रविवार दिनांक २५-१-८७ के दिन आउवा गाँव से विहार द्वारा परम पूज्य आचार्य म. सा. आदि **मारवाड़ जंक्शन** पधारे। व्याख्यान के बाद प्रभावना हुई। शाम को विहार द्वारा **दुडोल गाँव** पधारे।

• महा (पौष) वद ११ सोमवार दिनांक २६-१-८७ के दिन दुडोल गाँव से विहार द्वारा **खालसिया गाँव** पधारे। वहाँ पर पूज्यपाद आचार्य म. सा. ने स्कूल में मंगल प्रवचन किया। बाद में विहार द्वारा **सोजत सिटी** पधारते हुए श्रीसंघ ने बेन्ड युक्त पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि का स्वागत किया। मांगलिक प्रवचन हुआ। श्रीसंघ की विनंति से और दो दिन की स्थिरता हुई। १२, १३ और १४ इन दो दिनों में भी श्रीसंघ को प्रवचन

का लाभ सुन्दर मिला। अमावस के दिन सोजत सिटी से विहार कर पूज्यपाद आचार्य म. श्री आदि **अटपड़ा गाँव** पधारे।

४

बिलाड़ा नगर में प्रवेश और तीनों जिनमन्दिरों के शिखर पर नूतन ध्वजारोहण

महा सुद १ शुक्रवार दिनांक ३०-१-८७ के दिन अटपड़ा से विहार द्वारा **बिलाड़ा गाँव** पधारते हुए परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. आदि का श्रीसंघ ने बेन्ड आदि युक्त स्वागत किया। श्री विमलनाथजिनमन्दिरादि के दर्शन करके पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि श्री जिनचन्द्र कुशल सूरीश्वरजी दादावाड़ी में पधारे। वहाँ पर पूज्यश्री के मंगल प्रवचन के बाद प्रभावना हुई।

दोपहर में श्री विमलनाथजिनमन्दिर में श्री पार्श्वनाथ पंचकल्याणक पूजा प्रभावना समेत शा. मांगीलाल पुखराज जी की तरफ से पढ़ाई गई। श्रीसंघ की साग्रह विनंति को स्वीकार कर पूज्यपादश्री ने वसन्त पंचमी तक पाँच

दिन की स्थिरता दादावाड़ी में की। प्रतिदिन पूज्यपाद आचार्य म. सा. का एवं पूज्य मुनिराज श्रीजिनोत्तम विजयजी म. के प्रवचन का लाभ श्रीसंघ को मिलता रहा। महा सुद चौथ के दिन व्याख्यान में श्रीमान् भेरुसिंहजी दयालसिंहजी मेहता की ओर से रुपये की प्रभावना हुई।

• महा सुद ५ (वसन्त पंचमी) मंगलवार दिनांक ३-२-८७ के दिन परम पूज्य आचार्य म. श्री ने अपनी बड़ी-दीक्षा के ५५ वें वर्ष में और आचार्य-पदवी के २३ वें वर्ष में मंगल प्रवेश किया। उसी दिन श्री विमलनाथ जिन-मन्दिर की वर्षगाँठ और श्री दादावाड़ी जिनमन्दिर की भी वर्षगाँठ होने से दोनों स्थलों में शिखर पर तथा तीसरे श्री सुमतिनाथ जिनमन्दिर के भी शिखर पर परम पूज्य आचार्य म. सा. की शुभ निश्रा में नूतन ध्वजाएँ विधिपूर्वक चढ़ाने में आईं। बाद में दादावाड़ी में मंगल प्रवचन के बाद श्रीमान् फूलचन्दजी पारसमलजी की ओर से प्रभावना हुई। श्री विमलनाथ जिनमन्दिर में भी उन्हीं की तरफ से प्रभावना युक्त पूजा पढ़ाई गई।

• महा सुद ६ बुधवार दिनांक ४-२-८७ के दिन बिलाड़ा से विहार कर पूज्यपादश्री **खारिया गाँव** पधारे।

• महा सुद ७ गुरुवार दिनांक ५-२-८७ के दिन खारिया से विहार द्वारा जैनधर्मदिवाकर परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. आदि **जैतारण गाँव** के बाहर के विभाग में 'श्री मरुधर केसरी छात्रावास-पावनधाम' में पधारे।

५

जैतारण नगर में प्रवेश और परिकरादि प्रतिष्ठा-महोत्सव

महा सुद ८ शुक्रवार दिनांक ६-२-८७ के दिन प्रातः काल में परम शासन प्रभावक परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. आदि ठाणा-५ तथा पूज्य साध्वी श्री रयणयशाश्रीजी म. आदि ठाणा-५ का जैतारण नगर में प्रतिष्ठा हेतु श्रीसंघ की ओर से दो बेन्ड आदि युक्त भव्य स्वागत हुआ। अनेक गँहुलियाँ हुईं। दादावाड़ी में मंगल प्रवचन हुआ। दोपहर में श्री पंचकल्याणकपूजा पढ़ाई गई।

• महा सुद ९ शनिवार दिनांक ७-२-८७ के दिन से श्री धर्मनाथ भगवान के परिकर की प्रतिष्ठा एवं यक्ष-यक्षिणी की मंगलमूर्त्ति की स्थापना तथा वर्षगाँठ-ध्वजारोहण

के शुभ अवसर पर श्रीसंघ की ओर से श्रीशान्तिस्नात्र महापूजा युक्त **'अष्टाह्निका-महोत्सव'** का प्रारम्भ दादावाड़ी के श्रीधर्मनाथ जिनमन्दिर में हुआ। उसी दिन पूज्यपाद आचार्य म. सा. का तथा पूज्य मुनिराज श्रीजिनोत्तमविजयजी म. का प्रवचन हुआ। श्रीनवपदजी की पूजा शा. रतनचन्दजी कोठारी की ओर से पढ़ाई गई तथा स्वामीवात्सल्य श्रीजैन श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक संघ की तरफ से हुआ। प्रतिदिन व्याख्यान, पूजा, प्रभावना, आंगी, रोशनी तथा रात को भावना का कार्यक्रम चालू रहा।

• महा सुद १० रविवार दिनांक ८-२-८७ के दिन श्री धर्मनाथजिनमन्दिर में तथा श्री मुनिसुव्रतस्वामी जिन-मन्दिर में कुम्भस्थापना शा. केवलचन्दजी रांका सेठ की ओर से तथा अखण्ड दीपक शा. मनोहरलालजी फूलगर की तरफ से हुए। पूर्ववत् आज भी दादावाड़ी में व्याख्यान हुआ। संघवी श्री जौहरीलालजी सुरेन्द्रकुमार पटवा की ओर से श्रीवीशस्थानकपूजा तथा स्वामीवात्सल्य दोनों हुए।

• महा सुद ११ सोमवार दिनांक ९-२-८७ के दिन दादावाड़ी के जिनमन्दिर में नवग्रहादि पाटलापूजन विधि-

पूर्वक शा. भीकमचन्दजी गढ़वाणी की ओर से हुआ। पैंतालीस आगम की पूजा तथा स्वामीवात्सल्य दोनों शा. कन्हैयालालजी रांका सेठ की तरफ से हुए। पूज्य श्री जिनोत्तम वि. म. का व्याख्यान हुआ। (महा सुद ११ के ही दिन पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद्विजयसुशीलसूरीश्वर जी म. सा. तथा पूज्य मुनिराज श्री शालिभद्र विजयजी म. प्रातः विहार द्वारा **नीमाज गाँव** पधारे। वहाँ पर श्रीसंघ ने बेन्ड युक्त स्वागत किया। पूज्यपाद आचार्य म. सा. के प्रवचन के बाद प्रभावना हुई। श्री आदिनाथ जिनमन्दिर अंगे श्रीसंघ को मार्गदर्शन दिया।)

• महा सुद १२ मंगलवार दिनांक १०-२-८७ के दिन पूज्यपाद आचार्य महाराज सा. नीमाज से जैतारण पधार गये। दादावाड़ी में पूज्यपाद श्री का प्रवचन हुआ। जिनमन्दिर में अष्टादश अभिषेक विधि हुई। बारह व्रत की पूजा तथा स्वामीवात्सल्य दोनों शा. बसन्तराजजी खठोड़ की ओर से हुए।

• महा सुद १३ बुधवार दिनांक ११-२-८७ के दिन देवीपूजन हुआ। रथ, इन्द्रध्वज, घोड़े, बेन्ड आदि युक्त जलयात्रा का भव्य जुलूस-वरघोड़ा निकला। मंगल प्रवचन हुआ तथा श्री महावीर भगवान सम्बन्धी प्रश्नमंच

का कार्यक्रम रहा। श्रीसंघ ने चातुर्मास की भावपूर्ण विनंति की। शा. जौहरीलालजी प्रेमकुमार मेहता की तरफ से अन्तराय कर्म की पूजा पढ़ाई गई। एवं स्वामी-वात्सल्य शा. सुमेरमलजी मानमल मेहता की ओर से हुआ।

• महा सुद १४ गुरुवार दिनांक १२-२-८७ के दिन परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद्विजयसुशीलसूरीश्वरजी म. सा. की शुभ निश्रा में शुभ लग्न मुहूर्त्त में श्री धर्मनाथ जिनमन्दिर में मूलनायक श्री धर्मनाथ भगवान के नूतन परिकर की प्रतिष्ठा तथा मंगलमूर्ति स्थापना की गई, एवं वर्षगाँठ निमित्ते नूतन ध्वजा चढ़ाने में आई। श्री विमलनाथ भगवान के मन्दिर में वर्षगाँठ निमित्ते नूतन ध्वजा चढ़ाने में आई। श्रीमुनिसुव्रतस्वामी के मन्दिर में नूतन यक्ष-यक्षिणी मूर्त्ति की स्थापना हुई तथा वर्षगाँठ निमित्ते नूतन ध्वजा चढ़ाने में आई। दादावाड़ी में श्री शान्तिस्नात्र महापूजा तथा स्वामीवात्सल्य दोनों कार्य शा. गजराजजी नवरतनमलजी गढवाणी की ओर से हुए। परम पूज्य आचार्य म. सा. आदि विहार करके शाम को **गरणिया गाँव** पधारे।

• महा सुद १५ शुक्रवार दिनांक १३-२-८७ के दिन

सत्तरहभेदी पूजा व श्री दादा साहब की पूजा तथा स्वामी-वात्सल्य शा. केवलचन्दजी रांका सेठ की तरफ से हुए। उसी दिन पूज्य आचार्य म. श्री आदि **बिलाड़ा** पधारे।

• फागण (महा) वद १ शनिवार दिनांक १४-२-८७ के दिन नव्वाणु प्रकारी पूजा शा. तखतराजजी भण्डारी की ओर से पढ़ाई गई तथा स्वामीवात्सल्य शा. शुकनराज जी धरमचन्दजी फूलगर की तरफ से हुआ। शासन-प्रभावनापूर्वक प्रतिष्ठा-महोत्सव की पूर्णाहुति हुई। उसी दिन पूज्य आचार्य म. सा. आदि **भावी गाँव** पधारे।

• फागण (महा) वद २ रविवार दिनांक १५-२-८७ के दिन भावी गाँव से विहार द्वारा **श्री कापरड़ाजी तीर्थ** पधारते हुए परम पूज्य आचार्य म. सा. आदि का पेढ़ी की ओर से स्वागत किया गया। श्री पार्श्वनाथ प्रभु के दर्शनादि करके पूज्यश्री आदि धर्मशाला में बिराजे। दोपहर में इस पेढ़ी के प्रेसीडेन्ट श्रीमान् चिमनमलजी तथा श्रीमान् मांगीलालजी कोका आदि वन्दना हेतु आये। उस वक्त पूज्यपाद आचार्य म. सा. के सदुपदेश से इस विशालकाय जिनमन्दिर की एक दिशा तरफ की श्रृंगार चौकी बनाने के लिये श्रीमान् चिमनमलजी ने अपनी स्वीकृति दी।

• फागण (महा) वद तीज **डांगियावास** और वद चौथ **बनाड़** करके वद पाँचम के दिन जोधपुर-**रायकाबाग** संघवी श्री गुणदयालचन्दजी भंडारी के बंगले पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि पधारे। वहाँ पर मंगल प्रवचन के पश्चात् प्रभावना हुई। दोपहर में अजित कालोनी रातानाडा में जैनमन्दिर-उपाश्रय पधारते हुए पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि का बेन्ड युक्त स्वागत किया गया। मांगलिक के बाद प्रभावना हुई।

६

जोधपुर नगर में दीक्षा, उद्यापन तथा प्रतिष्ठा-महोत्सव

फागण (महा) वद छठ गुरुवार दिनांक १९-२-८७ के दिन प्रातः अगवरी निवासी श्री पारसमलजी की दीक्षा का वरघोड़ा एवं शासनरत्न पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजयसुशीलसूरीश्वरजी म. सा. आदि के जोधपुर नगरप्रवेश का जुलूस बेन्ड आदि युक्त अजित कालोनी से निकला। जैनधर्म क्रियाभवन में प्रवेश होने के पश्चाद् उसी दिन मुमुक्षु श्री पारसमलजी की दीक्षा उल्लासमय वातावरण में विधिपूर्वक सम्पन्न हुई। पूज्यपाद आचार्य

म. सा. ने नूतन मुनि को **मुनि श्री पुण्योदय विजयजी** नाम से जाहेर करके अपने विद्वान् शिष्यरत्न मुनिराज श्री जिनोत्तम विजयजी म. का शिष्य बनाया। संघपूजा भी हुई। उसी दिन क्रियाभवन में संघवी श्री गुणदयालचन्द जी भण्डारी की धर्मपत्नी अ. सौ. श्रीमती कमला बहन द्वारा की हुई विविध तपश्चर्या के निमित्त नव छोड़ के उद्यापन-उजमरणा युक्त **'अष्टाह्निका-महोत्सव'** का प्रारम्भ हुआ। प्रतिदिन व्याख्यान, पूजा, प्रभावना और रात को भावना का कार्यक्रम चालू रहा।

• सप्तमी के दिन पूज्यपाद आचार्य म. श्री चतुर्विध संघ और बेन्ड युक्त शा. शान्तिलालजी मरडिया वकील के घर पर पधारे। वहाँ पर ज्ञानपूजन एवं मंगल प्रवचन के बाद प्रभावना हुई।

• दशमी के दिन क्रियाभवन में संघवी श्री गुणदयाल-चन्दजी भण्डारी की ओर से चालू महोत्सव में लघु शान्ति-स्नात्र विधिपूर्वक पढ़ाया गया और संघपूजा भी की गई।

• फागुन (महा) वद ११ मंगलवार दिनाक २४-२-८७ के दिन प्रातः परम पूज्य आचार्य भगवन्त श्री चतुर्विध संघ तथा बेन्ड समेत शा. वीरेन्द्रचन्दजी भण्डारी के घर पर

पधारे। वहाँ पर भी ज्ञानपूजन एवं मंगल प्रवचन के पश्चात् संघपूजा हुई। उसी दिन जोधपुर नगर में 'गुरों का तालाब-गोलियाँ के मन्दिर' में अति प्राचीन श्री पार्श्वनाथ जिनबिम्बादिक की प्रतिष्ठा निमित्त **'अष्टाह्निका-महोत्सव'** का प्रारम्भ श्री वर्द्धमानचन्दजी गोलिया की तरफ से हुआ। वहाँ पर भी पूज्यपाद आचार्यदेव श्री उसी दिन पधार कर तथा कुम्भस्थापनादि विधि का कार्य बता कर वापस क्रियाभवन में पधार गये।

• फागुन (महा) वद १२-१३ बुधवार दिनांक २५-२-८७ के दिन प्रातः श्री जैन क्रियाभवन से जैनधर्म-दिवाकर पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि चतुर्विध संघ तथा बेन्ड युक्त पावटा पधारते हुए बीच में श्रीमान् जेठमल जी राठौड़ सेवाड़ी वाले के बंगले पर पधारे। वहाँ पर भी ज्ञानपूजन एवं मंगलप्रवचन के बाद संघपूजा हुई। वहाँ से श्रीमान् भैंरूसिंहजी के बंगले पर पधारे। वहाँ पर ज्ञानपूजन और व्याख्यान के पश्चात् प्रभावना हुई।

• फागुन (महा) वद १४ गुरुवार दिनांक २६-२-८७ के दिन प्रातः पावटा से भैंरूबाग पधारते हुए परमपूज्य आचार्यदेव आदि का श्रीसंघ ने बेन्ड युक्त स्वागत किया। वहाँ पर पूज्यपाद आचार्य श्री विजय विबुधप्रभसूरिजी

म. सा. आदि का तथा पूज्य मुनिराज श्री नयरत्नविजयजी म. आदि का सुभग सम्मिलन हुआ। वहाँ से श्रीमान् जबरमलजी कोठारी के बंगले पर पधारे। वहाँ पर परम शासनप्रभावक परम पूज्य आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. की पावन निश्रा में **'श्रीसिद्धचक्रमहापूजन'** विधिपूर्वक पढ़ाया गया। संघपूजा भी हुई। बाद में पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि भैंरूबाग पधार गये।

• फागण (माह) वद १५ शुक्रवार दिनांक २७-२-८७ के दिन भैंरूबाग में पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. का प्रवचन हुआ। दोपहर में परमपूज्य आचार्य भगवन्त आदि श्रीमान् उपयोगचन्दजी भण्डारी के घर पर पधारे। वहाँ पर उनको श्री पुण्यप्रकाश स्तवन तथा श्री पद्मावती आराधनादि सुनाया। बाद में उनके सुपुत्र श्री सुखपालचन्दजी भण्डारी ने प्रभावना की।

• फागण सुद १ शनिवार दिनांक २८-२-८७ के दिन प्रातः भैंरूबाग से परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील-सूरीश्वरजी म. सा. आदि, पूज्यपाद आचार्य श्रीमद्विजय विबुधप्रभसूरिजी म. सा. आदि तथा पूज्य मुनिराज श्री

नयरत्नविजयजी म. आदि विहार कर प्रतापनगर पधारे। वहाँ पर श्रीमान् मंगलचन्दजी गोलिया के घर पर पगलां किये और मांगलिक सुनाया। बाद में गुरों के तालाब के समीपवर्ती धर्मशाला में बेन्ड युक्त स्वागतपूर्वक पधारे। उसी दिन श्री पार्श्वनाथ जिनमन्दिर में चल रहे प्रतिष्ठा महोत्सव में नवग्रहादि पाटलापूजन, पूजा-प्रभावना तथा रात को भावना आदि का कार्यक्रम रहा।

• फागण सुद २ रविवार दिनांक १-३-८७ के दिन परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. आदि बेन्ड युक्त स्वागतपूर्वक प्रतापनगर में श्रीमान् जवाहरचन्दजी बोरा के बंगले पर पधारे। वहाँ पूज्यपाद आचार्य म. सा. का तथा पूज्य मुनिराज श्री जयरत्नविजयजी म. का व्याख्यान होने के पश्चात् संघपूजा हुई। बाद में पूज्यपाद आ. म. श्री आदि धर्मशाला में पधार गये। उसी दिन अष्टादश अभिषेक, दण्ड-कलशाभिषेक तथा पूजा-प्रभावना तथा रात को भावना का एवं स्वामिवात्सल्य का भी कार्यक्रम रहा।

• फागण सुद ३ सोमवार दिनांक २-३-८७ के दिन परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. की शुभ निश्रा में एवं परमपूज्य आचार्य श्री

विजय विबुधप्रभसूरिजी म. सा. आदि को उपस्थिति में श्री पार्श्वनाथ प्रभु की, श्री माणिभद्रजी की एवं चरण-पादुका की मंगलप्रतिष्ठा हुई। श्रीमान् वर्द्धमानचन्दजी गोलिया की तरफ से श्री शान्तिस्नात्रपूजा तथा एक-एक रुपये की प्रभावना हुई। स्वामिवात्सल्य भी उन्हीं की ओर से हुआ। उसी दिन वहाँ से विहार द्वारा शाम को नेहरू पार्क के पास में श्रीमान् मोतीलालजी के बंगले में पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. आदि पधारे। वहाँ पर भी संघपूजा हुई।

(स्मरण रहे कि ११ वर्ष पूर्व पूज्यपाद आचार्य म. सा. ने जोधपुर नगर में यशस्वी चातुर्मास किया था। उसके बाद प्रथम बार जोधपुर पधारने से शासनप्रभावक कई आयोजन सम्पन हुए।)

(फागण सुद बीज के दिन पाली नगर में स्वागत पूर्वक पधारे हुए परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. के विद्वान् शिष्यरत्न सुमधुर प्रवचनकार पूज्य मुनिराज श्री जिनोत्तम विजयजी म. सा. आदि की शुभ निश्रा में, श्री सम्मेदशिखरजी आदि तीर्थों का बस-यात्रासंघ निकालने वाले श्रीमान् गुलाब-चन्दजी कोचर की ओर से 'श्रीसिद्धचक्र महापूजन' विधि

पूर्वक पढ़ाया गया। तथा फागण सुद तीज के दिन भी उन्हीं के पावन सान्निध्य में संघप्रयाण-प्रसंग उल्लास-पूर्वक सम्पन्न हुआ था।)

• जैनधर्मदिवाकर परमपूज्य आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. आदि ने फागण सुद ४ मंगलवार दिनांक ३-३-८७ के दिन जोधपुर नगर से विहार किया। मोगरा, रोहट, गड़गांव, केरला तथा घुमटी होकर फागण सुद ८ शनिवार दिनांक ७-३-८७ के दिन पाली पधारे। वहाँ से गुंदोज, खौड़ होकर **जवाली** बेन्ड युक्त स्वागत पूर्वक फागण सुद १० के दिन पधारे। श्रीमान् रूपचन्दजी के घर पर पगलां किये। वहाँ पर उन्होंने पैदल संघ निकालने की प्रतिज्ञा ली। ज्ञानपूजन के बाद उनको मांगलिक सुनाया। जिनमन्दिर में दर्शनादि करने के पश्चात् पूज्यपाद आचार्य म. सा. का मंगल प्रवचन हुआ। प्रान्ते प्रभावना हुई। दोपहर में पूजा प्रभावनापूर्वक पढ़ाई गई। फागण सुद ११ बुधवार दिनांक ११-३-८७ के दिन पूज्यपाद आचार्य म. सा. के सदुपदेश द्वारा श्रीसंघ में प्रतिष्ठा निमित्त एकता का वातावरण बनने के बाद, श्रीसंघ की जाजम बिछाने पर बोलियाँ बोलने का लाभ जवाली संघ के सदस्यों ने अच्छा लिया।

• फागण सुद १२ शुक्रवार दिनांक १३-३-८७ के दिन जवाली से विहार द्वारा नादाणा तीर्थ के जिनमन्दिर में दर्शनादि करके **रानीगाँव** पधारते हुए पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि का स्वागत श्रीसंघ ने किया। परमपूज्य आचार्यदेव के और पूज्य मुनि श्री रविचन्द्र विजय जी म. रानीगाँव वाले के व्याख्यान का लाभ श्रीसंघ को मिला। प्रान्ते प्रभावना भी हुई।

७

रानी स्टेशन पर अष्टाहि्नका महोत्सव

फागण सुद १४ शनिवार दिनांक १४-३-८७ के दिन रानीगाँव से रानी स्टेशन पर पधारते हुए मरुधरदेशोद्धारक परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. आदि का बेन्ड युक्त स्वागत हुआ। जैन धर्मशाला में पूज्यपाद आचार्य म. सा. का तथा पूज्य मुनिराज श्री जिनोत्तम विजयजी म. का प्रवचन होने के पश्चात् प्रभावना हुई। उसी दिन शा. सांकलचन्दजी नवलमलजी ढोलागाँव वाले की धर्मपत्नी अ. सौ. शान्ताबाई द्वारा की हुई ५०० आयम्बिल की पूर्णाहुति के उपलक्ष में शा. सांकलचन्दजी की ओर से कृत **'अष्टाहि्नका-महोत्सव'** का शुभारम्भ हुआ। प्रतिदिन

व्याख्यान-पूजा-प्रभावना तथा रात को भावना का कार्यक्रम चालू रहा ।

• चैत्र (फागण) वद ४ गुरुवार दिनांक १९-३-८७ के दिन इन्द्रध्वज-रथ-हाथी-घोड़े तथा बेन्ड युक्त जुलूस-वरघोड़ा निकला । उसी दिन पूज्यपाद आचार्य म. सा. चतुर्विध संघ तथा बेन्ड सहित श्रीमान् सांकलचन्दजी के घर पर पधारे । वहाँ पर ज्ञानपूजन और मंगल प्रवचन हुआ । शा. सांकलचन्दजी ने पैदल संघ निकालने की प्रतिज्ञा ली । बाद में प्रभावना हुई ।

• चैत्र (फागण) वद ५ शुक्रवार दिनांक २०-३-८७ के दिन **'श्रीसिद्धचक्र महापूजन'** विधिपूर्वक पढ़ाया गया । रानी स्टेशन से विहार द्वारा पूज्यपाद आचार्य म. श्री खीमेल, फालना-अम्बाजीनगर, सांडेराव, ढोला होकर किरवा पधारे ।

८

गुड़ाएन्दला में नवाह्निका महोत्सव

चैत्र सुद ८ सोमवार दिनांक ६-४-८७ के दिन किरवा से विहार कर राजस्थानदीपक परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. आदि गुड़ा-

एन्दलागाँव में पधारते हुए। उनका श्रीसंघ की ओर से बेन्ड युक्त स्वागत हुआ। चैत्रमासीय शाश्वती श्रीनवपद ओली की आराधना का प्रारम्भ हुआ। तथा तन्निमित्तक चैत्र सुद ८ से चैत्र सुद १५ तक **'नवाह्निका-महोत्सव'** का भी प्रारम्भ हुआ। महोत्सव दरम्यान प्रतिदिन पूजा-प्रभावना-आंगी-रोशनी तथा रात को भावना का कार्यक्रम रहा। पूज्यपाद आचार्य म. सा. तथा पूज्य मुनिराज श्री जिनोत्तम विजयजी म. के प्रवचन का लाभ अहर्निश श्रीसंघ को मिलता रहा।

• चैत्र सुद ११ के दिन व्याख्यान में अगवरी निवासी शा. चुन्नीलाल सांकलचन्दजी की ओर से संघपूजा हुई।

• चैत्र सुद १३ रविवार दिनांक १२-४-८७ का दिन श्रमण भगवान महावीर परमात्मा का जन्म-कल्याणक होने से वरघोड़ा हाथी-घोड़े-नगाड़े निशानडंका-बैन्ड आदि से सुशोभित निकाला गया।

• चैत्र सुद १५ मंगलवार दिनांक १४-४-८७ के दिन **'श्रीसिद्धचक्र महापूजन'** विधिपूर्वक शानदार पढ़ाया गया। उसी दिन स्वामिवात्सल्य शा. मीठालालजी कोठारी बोकरीया की तरफ से हुआ। ओली आराधक तपस्वियों के पारणा आदि का कार्यक्रम अच्छा रहा।

• वैशाख (चैत्र) वद ३ गुरुवार दिनांक १६-४-८७ के दिन गुड़ा-एन्दला में पूज्यपाद आचार्य म. सा. का तथा पूज्य मुनिराज श्री जिनोत्तम विजयजी म. का **'जाहेर प्रवचन'** सुन्दर हुआ।

• वद चौथ के दिन पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि **चाचोरी गाँव** पधारे तथा वद पंचमी के दिन **नादाणातीर्थ** में पधारे।

९
जवालीनगर में प्रवेश एवं प्रतिष्ठा-महोत्सव

वैशाख (चैत्र) वद ६ रविवार दिनांक १९-४-८७ के दिन जैनधर्मदिवाकर परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा., पूज्य मुनिराज श्री प्रमोद विजयजी म., पूज्य मुनिराज श्रीशालिभद्र विजयजी म., पूज्य मुनिराज श्री जिनोत्तम विजयजी म., पूज्य मुनिराज श्री अरिहंत विजयजी म., पूज्य मुनिराज श्री रविचन्द्र विजयजी म. तथा पूज्य मुनिराज श्री पुण्योदय विजयजी म. आदि साधु समुदाय तथा पूज्य साध्वी श्री गरिमाश्रीजी आदि एवं पूज्य साध्वी श्री रयणयशाश्रीजी आदि साध्वी समुदाय जवालीनगर में प्रतिष्ठा हेतु पधारते हुए, श्रीसंघ

की ओर से बैन्ड युक्त स्वागत हुआ। जिनदर्शन के बाद पूज्यपाद आचार्य म. सा. का मंगलप्रवचन हुआ। बाद में प्रभावना हुई।

प्रतिष्ठा-महोत्सव का मंगल कार्यक्रम

(१) वैशाख (चैत्र) वद १२ शनिवार दिनांक २५-४-८७ के दिन प्रतिष्ठा-महोत्सव का प्रारम्भ हुआ। प्रतिदिन व्याख्यान, पूजा, प्रभावना, आंगी, रोशनी तथा रात को भावना का कार्यक्रम चालू रहा। साधर्मिक भक्ति भी अहर्निश चालू हो गई। उसी दिन श्री पंच-कल्याणकपूजा पढ़ाई गई।

(२) वैशाख (चैत्र) वद १३ रविवार दिनांक २६-४-८७ के दिन कुम्भस्थापना, अखण्डदीपक, जवारा-रोपण की विधि हुई। श्रीनवपदजी की पूजा पढ़ाई गई।

(३) वैशाख (चैत्र) वद १४ सोमवार दिनांक २७-४-८७ के दिन श्री वीशस्थानक की पूजा पढ़ाई गई।

(४) वैशाख (चैत्र) वद १५ मंगलवार दिनांक २८-४-८७ के दिन पूज्यपाद आचार्य म. सा. पधारे हुए पूज्य पंन्यास श्री धरणेन्द्रसागरजी म. तथा पूज्य मुनिराज श्री जिनोत्तम विजयजी म., इन तीनों के प्रवचन का लाभ

श्रीसंघ को मिला। उसी दिन ४५ आगमों की पूजा पढ़ाई गई।

(५) वैशाख सुद १ बुधवार दिनांक २९-४-८७ के दिन ९९ अभिषेक की पूजा पढ़ाई गई। इन्द्रध्वज, रथ, हाथी, घोड़े तथा बैन्ड आदि समेत शानदार जुलूस वरघोड़ा निकलना आज से चालू रहा।

(६) वैशाख सुद २ गुरुवार दिनांक ३०-४-८७ के दिन ५६ दिग्कुमारी का महोत्सव सुन्दर उजवाया। बारह व्रत की पूजा पढ़ाई गई। भव्य वरघोड़ा निकला। प्रात: नाश्ता एव दो टंक का स्वामीवात्सल्य चालू हुआ।

(७) वैशाख सुद ३ (अक्षयतृतीया) शुक्रवार दिनांक १-५-८७ के दिन पूज्य साध्वी श्री महिमाश्रीजी की शिष्या पूज्य साध्वी श्री गुणवन्ताश्रीजी के दसवें वर्षी-तप की महान् तपश्चर्या के पारणे के उपलक्ष में राजस्थानदीपक पूज्यपाद आचार्यदेवश्री चतुर्विध संघ और बेन्ड समेत शा. रूपचन्द अचलदासजी राठौड़ के घर पर पगलां करने के लिये पधारे। वहाँ पर ज्ञानपूजन एवं मंगल प्रवचन के पश्चात् दो संघपूजा हुई। उसी दिन **'श्री सिद्धचक्रमहापूजन'** विधिपूर्वक पढ़ाया गया। तथा

भव्य वरघोड़ा भी निकला। प्रातः नाश्ता एवं दो टंक का स्वामीवात्सल्य हुआ।

(८) वैशाख सुद ४ शनिवार दिनांक २-५-८७ के दिन नवग्रहादि पाटलापूजन, लघुनन्दावर्त्तपूजन तथा ध्वज-दण्ड, कलशाभिषेक आदि की विधि हुई। श्री अष्टापदजी तीर्थ की पूजा पढ़ाई गई। शानदार वरघोड़ा निकला। प्रातः नाश्ता एवं दो टंक का स्वामीवात्सल्य हुआ।

(९) वैशाख सुद ५ रविवार दिनांक ३-५-८७ के दिन नूतन जिनप्रासाद अभिषेक, अठारह अभिषेक तथा देवीपूजन इत्यादि की विधि हुई। अन्तराय कर्म निवारण की पूजा पढ़ाई गई। जलयात्रा का शानदार भव्य जुलूस-वरघोड़ा निकाला गया। शा. फतेचन्द मूलचन्दजी, शा. भागचन्द चुन्नीलालजी तथा शा. बाबूलाल चुन्नीलाल जी—इन तीनों के घर पर परम पूज्य आचार्य म. सा. चतुर्विध संघ और बेन्ड सहित पगलां करने के लिये पधारे। वहाँ पर ज्ञानपूजन एवं मंगल प्रवचन के पश्चात् संघपूजा हुई। प्रातः नाश्ता एवं दो टंक का स्वामीवात्सल्य हुआ।

(१०) वैशाख सुद ६ सोमवार दिनांक ४-५-८७ के दिन प्रातः शुभलग्नमुहूर्त्त में मूलनायक श्रीधर्मनाथादि

जिनबिम्बों का, श्रीपद्मप्रभादि जिनबिम्बों का तथा यक्ष-यक्षिणी आदि का विशालकाय नूतन जिनमन्दिर में मंगल प्रवेश, तोरण बाँधना एवं बिन्दना, माणेक स्तम्भ रोपना, बाद में शुभलग्नवेला में श्रीधर्मनाथजी श्रीपद्मप्रभ स्वामीजी आदि जिनबिम्बों की महामंगलकारी प्रतिष्ठा, यक्ष-यक्षिणी मूर्त्तियों की स्थापना, शिखरोपरि ध्वज-दण्ड-कलशारोहण इत्यादि महामंगलकारी कार्य हुए। हेलीकॉप्टर से पुष्पों की वृष्टि भी हुई। बृहद्शान्तिस्नात्र विधिपूर्वक प्रभावना सहित पढ़ाया गया। नौकारशीफलेचुंदड़ी (सारे गाँव का जीमण) का कार्य हुआ। उसी दिन शा. दीपचन्द जुवानमलजी के घर पर भी पूज्यपाद आचार्य म. सा. के चतुर्विध संघ सहित पगलां हुए। ज्ञानपूजन एवं मंगल-प्रवचन के बाद प्रभावना हुई। रात्रि में विष्टी की क्रिया हुई।

• वैशाख सुद छठ के दिन चाचोरी में पूज्य मुनिराज श्री प्रमोदविजयजी म. की शुभ निश्रा में जीर्णोद्धार किये हुए जिनमन्दिर में मूलनायक श्री मनमोहन पार्श्वनाथ आदि जिनबिम्बों के तथा यक्ष-यक्षिणी आदि मूर्त्तियों के मंगल प्रवेश हुए। पूजा-प्रभावना आदि का कार्यक्रम रहा।

• श्री नादाणातीर्थ में पूज्य मुनिराज श्री जिनोत्तम विजयजी म. की शुभ निश्रा में नाडोलनिवासिनी बाल-ब्रह्मचारिणी कुमारी पवनबहन की भागवती दीक्षा विधि-पूर्वक हुई। नूतन साध्वीजी का नाम श्री पद्मयशाश्रीजी रक्खा। पूज्य साध्वी श्री गरिमाश्रीजी की शिष्या पूज्य साध्वी श्रीवल्लभश्रीजी की शिष्या बनी। पूजा-प्रभावना हुई। पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि जवाली से विहार कर शाम को श्री नादाणातीर्थ में पधारे।

• वैशाख सुद सप्तमी के दिन जवाली में प्रातः द्वारोद्‌घाटन की विधि हुई। सत्तरहभेदी पूजा प्रभावना युक्त पढ़ाई गई। स्वामीवात्सल्य भी हुआ। परमशासन-प्रभावनापूर्वक प्रतिष्ठा महोत्सव कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। यह **प्रतिष्ठा-महोत्सव** जवाली के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

१०

चाचोरी में श्री सिद्धचक्र महापूजन

वैशाख सुद ७ मंगलवार दिनांक ५-५-८७ के दिन तीर्थप्रभावक परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद्‌विजयसुशील सूरीश्वरजी म. सा. आदि के श्रीनादाणातीर्थ से **चाचोरी**

गाँव पधारने पर श्रीसंघ की ओर से भव्य स्वागत हुआ। प्रवचन के पश्चात् प्रभावना हुई। जिनमन्दिर में '**श्रीसिद्धचक्र महापूजन**' विधिपूर्वक श्रीसंघ की ओर से पढ़ाया गया। स्वामीवात्सल्य भी हुआ। शाम को पूज्यपाद आचार्य म. श्री आदि **माडोंल गाँव** पधारे।

• वैशाख सुद ८ बुधवार दिनांक ६-५-८७ के दिन माडोंल से **लापोद गाँव** पधारने पर पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि का श्रीसंघ ने स्वागत किया। प्रवचन के पश्चात् पूज्यपाद श्री चतुर्विध संघ समेत एक सद्गृहस्थ के घर पर पधारे। वहाँ पर ज्ञानपूजन तथा मंगल प्रवचन हुआ। प्रान्ते प्रभावना हुई।

• वैशाख सुद ९ गुरुवार दिनांक ७-५-८७ के दिन लापोद से **कोसेलाव गाँव** पधारने पर परम पूज्य आचार्य म. सा. आदि का स्वागत श्रीसंघ ने बेन्ड युक्त किया। तीनों जिनमन्दिरों के दर्शनादि के बाद पूज्यपादश्री का प्रवचन हुआ। शा. केवलचन्द शुकराजजी ललवानी के घर पर परम पूज्य आचार्य म. सा. चतुर्विध संघ तथा बेन्ड समेत पधारे। वहाँ पर ज्ञानपूजन एवं मंगल प्रवचन के बाद प्रभावना हुई।

११

तखतगढ़नगर में प्रवेश, बड़ी-दीक्षा तथा उद्यापन-महोत्सव

वैशाख सुद १० शुक्रवार दिनांक ८-५-८७ के दिन कोसेलाव से विहार द्वारा **तखतगढ़नगर** में महोत्सव निमित्त पधारते हुए अनुपम शासन प्रभावक परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजयसुशील सूरीश्वरजी म. सा. आदि का श्रीमान् भेरूमल मूलचन्दजी की ओर से बेन्ड युक्त स्वागत हुआ। मुख्य दोनों जिनमन्दिरों में दर्शनादि करके नूतन श्री आदिनाथ जैन उपाश्रय में पधारे। वहाँ पर पूज्यपाद आचार्य म. सा. का तथा पूज्य मुनिराज श्री जिनोत्तम विजयजी म. का प्रवचन होने के पश्चात् प्रभावना हुई। उसी दिन पूज्यपाद श्री की पावन निश्रा में स्वर्गीय श्रीमान् मूलचन्दजी किस्तूरचन्दजी की धर्मपत्नी श्रीमती शकुबाई द्वारा की हुई विविध तपश्चर्या के अनुमोदनार्थ ९ छोड़ का उद्यापन-उजमणा युक्त **'अष्टाह्निका-महोत्सव'** का प्रारम्भ हुआ। प्रतिदिन व्याख्यान-पूजा-प्रभावना-आंगी-रोशनी तथा रात्रि को भावना का कार्यक्रम चालू रहा। दशम के दिन श्री पार्श्वनाथ पंच-कल्याणक पूजा पढ़ाई गई।

• वैशाख सुद ११ शनिवार दिनांक ६-५-८७ के दिन नूतन मुनि श्रीपुण्योदयविजयजी म. की बड़ी-दीक्षा विधि-पूर्वक हुई। **'श्री सिद्धचक्रमहापूजन'** विधिपूर्वक पढ़ाया गया।

• बारस के दिन बारह व्रत की पूजा पढ़ाई गई।

• वैशाख सुद १३ सोमवार दिनांक ११-५-८७ के दिन **'श्रीवीशस्थानक महापूजन'** विधिपूर्वक पढ़ाया गया। उसी दिन संघवी मूलचन्द हजारीमलजी के घर पर पूज्यपाद आचार्य म.सा. चतुर्विध संघ तथा बैन्ड समेत पधारे। वहाँ पर ज्ञानपूजन के बाद पूज्यपाद आचार्य म.सा. ने संघवीजी श्रीमान् मूलचन्दजी को पुण्यप्रकाश का स्तवन और पद्मावती की आराधना आदि सुनाये। उसी समय पूज्यपाद श्री के सदुपदेश से अपनी तरफ से सातों क्षेत्रों में तथा जीव-दया में लाभ लेने के लिए उन्होंने अच्छी रकम जाहेर कर दी। बाद में प्रभावना हुई। शा. बाबूलाल पूनमचंदजी के वहाँ तथा शा. नथमल पूनमचंदजी के वहाँ पर भी चतुर्विध संघ सहित पूज्यपाद श्री के पगलां हुए। ज्ञानपूजन एवं मंगल प्रवचन के पश्चात् प्रभावना हुई।

• वैशाख सुद १४ मंगलवार दिनांक १२-५-८७ के दिन

पूज्यपाद आचार्य श्रीमद् विजयहेमप्रभसूरिजी म. आदि स्वागतपूर्वक पधारे। दोनों पूज्य आचार्य भगवन्त का संमिलन हुआ। परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुशीलसूरीश्वरजी म.सा. के प्रवचन बाद, पूज्य मुनिराज श्रीमणिप्रभविजयजी म. का व्याख्यान हुआ। सर्वमंगल के पश्चात् प्रभावना हुई। उसी दिन श्रीअष्टापद तीर्थ की पूजा पढ़ाई गई।

• वैशाख सुद १५ बुधवार दिनांक १३-५-८७ के दिन ९९ प्रकारी पूजा पढ़ाई गई।

• ज्येष्ठ (वैशाख) वद १ गुरुवार दिनांक १४-५-८७ के दिन पूज्यपाद आचार्य श्रीमद् विजयसद्गुणसूरिजी म. सा., पूज्य मुनिराज श्री सागरचन्द्रविजयजी म. तथा पूज्य बाल-मुनि श्री चन्द्रपालविजयजी म. आदि स्वागतपूर्वक पधारे। दोनों आचार्य म. सा. का संमिलन चार वर्ष के बाद हुआ। आज श्रीसंघ को दोनों आचार्य भगवन्त के प्रभाविक प्रवचन के पश्चाद् तखतगढ़ वाले पूज्य मुनिराज श्रीसागर-चन्द्रविजयजी म. के भी व्याख्यान-श्रवण का लाभ सुन्दर मिला। प्रान्ते सर्वमंगल के बाद प्रभावना हुई। इन्द्रध्वज-रथ-हाथी-घोड़े-बैन्ड आदि युक्त शानदार भव्य जुलूस-वरघोड़ा निकला। अन्तरायकर्मनिवारण की पूजा

पढ़ाई गई। शा. भेरूमलजी मूलचन्दजी की ओर से स्वामीवात्सल्य हुआ और संघपूजा भी हुई।

• ज्येष्ठ (वैशाख) वद २ शुक्रवार दिनांक १५-५-८७ के दिन **'श्रीपार्श्व पद्मावती महापूजन'** विधिपूर्वक पढ़ाया गया। श्रीमान् भेरूमलजी मूलचन्दजी के घर पर दोनों परमपूज्य आचार्य भगवन्त ने चतुर्विध संघ और बेन्ड समेत पगलां किये। ज्ञानपूजन एवं मंगलप्रवचन के बाद वहाँ पर प्रभावना हुई। शा. पूनमचन्द गोमाजी तथा शा. तेजराज नरसिंहजी दोनों के घर पर भी दोनों पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदिके पगलां हुए। प्रांते दोनों स्थल में प्रभावना भी हुई। जैनधर्मदिवाकर-राजस्थानदीपक-मरुधरदेशोद्धारक परमपूज्यआचार्य गुरुभगवन्त श्रीमद्विजयसुशीलसूरीश्वर जी म.सा. आदि तखतगढ़ से विहार कर शाम को **बलाणा गांव** पधार गये।

• बलाणा से तृतीया के दिन विहार द्वारा पूज्यपाद आचार्य म.सा. आदि फालना-अम्बाजीनगर में पधारे।

• फालना से पंचमी के दिन विहार द्वारा बाली में श्रीमनमोहनपार्श्वनाथ जिनमन्दिर और श्रीविमलनाथ जिनमन्दिर में दर्शनादि करके तथा वयोवृद्धा साध्वी श्री भक्तिश्रीजी एवं साध्वी श्री ललितप्रभाश्रीजी आदि

साध्वी समुदाय को सुख शातादि पूछ करके **मुण्डारागाँव** पधारते हुए परमपूज्य आचार्य म.सा. आदि का श्रीसंघ ने स्वागत किया। व्याख्यान के बाद प्रभावना हुई।

१२

श्रीराणकपुर तीर्थ में ५०० आयम्बिल तप के पारणा एवं श्रीसिद्धचक्रमहापूजन

ज्येष्ठ (वैशाख) वद ६ सोमवार दिनांक १८-५-८७ के दिन तीर्थप्रभावक परमपूज्य आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजयसुशीलसूरीश्वरजी म. सा. आदि मुण्डारा से विहार द्वारा श्री राणकपुर तीर्थ में पधारते हुए। उनका बेन्ड युक्त स्वागत सादड़ीनिवासी श्रीमान् मांगीलाल घीसूलाल बदामिया द्वारा श्री आणंदजी कल्याणजी की पेढ़ी मारफत हुआ। विशालकाय भव्य श्री ऋषभदेव जिनमन्दिर के दर्शनादि किये। ५०० आयंबिल तप के पारणा के प्रसंग पर शणगारेल विशाल मण्डप में पूज्यपाद आचार्यदेव की पावन निश्रा में ज्ञानपूजन हुआ। 'तप की महत्ता' पर पूज्यपाद श्री का प्रभावशाली प्रवचन हुआ। श्रीमान् मांगीलाल और घीसूलाल की मातुश्री द्वारा की हुई ५०० आयंबिल तपश्चर्या की पूर्णाहुति एवं

पारणा के उपलक्ष में सादड़ी शहर में चल रहे महोत्सव की अनुमोदना के साथ आज के पारणा के प्रसंग पर पूज्यपाद आचार्य म. सा. के सदुपदेश से अपनी ओर से शा. मांगीलाल घीसूलाल बदामिया ने सादड़ी शहर में नूतन श्रीपार्श्वनाथ प्रभु की ५१ इंच की भव्य प्रतिमा की विशाल परिकर युक्त अंजनशलाका पूर्वक प्रतिष्ठा महोत्सव उजववानी जाहेरात की। सर्वमंगल के बाद श्री राणकपुर तीर्थ में ५०० आयंबिल करने वाली श्रीमांगीलाल घीसूलाल की माताजी ने सुखपूर्वक सानन्द पारणा किया। उसी दिन बदामिया परिवार की ओर से दादा के दरबार में '**श्रीसिद्धचक्रमहापूजन**' विधिपूर्वक पढ़ाया गया। तथा स्वामीवात्सल्य भी सभी यात्री वर्ग और पेढ़ी के पूर्ण स्टाफ के साथ में हुआ।

१३

सादड़ी शहर में शान्तिस्नात्र युक्त अष्टाह्निका महोत्सव

ज्येष्ठ (वैशाख) वद ७ मंगलवार दिनांक १९-५-८७ के दिन श्रीराणकपुर तीर्थ से विहार द्वारा **सादड़ी शहर** में पधारते हुए परम शासन प्रभावक परम पूज्य आचार्यदेव

श्रीमद् विजयसुशीलसूरीश्वरजी म. सा. आदि का श्रीमान् मांगीलाल घीसूलाल बदामिया की ओर से बेन्ड युक्त स्वागत हुआ तथा दोनों बन्धुओं के घर पर पूज्यपाद श्री के पुनीत पगलिये हुए। जलयात्रा का भव्य वरघोड़ा निकला। ५०० आयंबिल की पूर्णाहुति एवं पारणा के उपलक्ष में नयी आबादी के श्रीमहावीर स्वामी जिनमन्दिर में चलते हुए महोत्सव में पूज्यपाद आचार्य म.सा. की शुभ निश्रा में **श्रीशान्तिस्नात्र** विधिपूर्वक पढ़ाया गया और जैन न्याती नोहरे में स्वामीवात्सल्य हुआ। पूज्यपाद आचार्य म.सा. आदि विहार द्वारा शाम को मुण्डारा गाँव पधारे।

- अष्टमी के दिन आचार्यश्री मुण्डारा से रानी स्टेशन पर पधारे।

१४

रानी गाँव में श्रीसिद्धचक्र महापूजन युक्त अष्टाह्निका-महोत्सव

ज्येष्ठ (वैशाख) वद ६ गुरुवार दिनांक २१-५-८७ के दिन नित्य सूरिमन्त्रसमाराधक पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजयसुशीलसूरीश्वरजी म. सा. आदि रानी स्टेशन

से रानी गाँव पधारते हुए। उनका बेन्ड युक्त स्वागत श्रीमान् जीवराजजी नथमलजी पुनमिया की ओर से हुआ। स्वागत में पधारे हुए विद्वान् गणिवर्य श्रीगुणरत्न विजयजी म. आदि का सानन्द संमिलन हुआ। जिन-मन्दिर में दर्शनादि के बाद न्याती नोहरे में पूज्यपाद आचार्य म. सा. का तथा पूज्य गणिवर्य श्रीगुणरत्न-विजयजी म. सा. का मंगल प्रवचन हुआ। श्रीमान् जीवराजजी नथमलजी पुनमिया एवं श्रीमती हीरीबाई के शुभ जीवित महोत्सव पर पधारे हुए पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि चतुर्विध संघ तथा बेन्ड युक्त श्रीमान् जीवराजजी के घर पगलियां किये। ज्ञानपूजन एवं मांगलिक श्रवण के बाद वहाँ पर प्रभावना हुई। चलते हुए जीवित महोत्सव में आज भी पूजा-प्रभावना-आंगी-रोशनी आदि का कार्यक्रम रहा। तदुपरान्त जुलूस-वरघोड़ा भी निकला। रात को भावना हुई।

• ज्येष्ठ (वैशाख) वद १० शुक्रवार दिनांक २२-५-८७ के दिन प्रातः रानी गांव के स्कूल के विभाग में शरणागारा हुआ। विशाल मण्डप में श्रीसंघ की ओर से **'श्रीआध्यात्मिक ज्ञान शिविर'** का उद्घाटन जैनधर्मदिवाकर परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजयसुशीलसूरीश्वरजी म.सा.

की शुभनिश्रा में श्रीसंघ के अद्वितीय उत्साह के साथ शासनप्रभावना पूर्वक हुआ। शिविर के बारे में अनेक वक्ताओं के भाषण हुए। पूज्यपाद आचार्य म.सा. के तथा श्री आध्यात्मिक ज्ञानशिविर के सदुपदेशक पूज्य गणिवर्य श्रीगुणरत्नविजयजी म. आदि के प्रभावपूर्ण प्रवचन हुए। दोपहर में जिनमन्दिर में **'श्रीसिद्धचक्रमहापूजन'** विधिपूर्वक श्रीमान् जीवराजजी की ओर से पढ़ाया गया। तथा उनकी तरफ से न्याती नोहरे में स्वामीवात्सल्य भी हुआ। जीवित महोत्सव की भी पूर्णाहुति हुई।

• ज्येष्ठ (वैशाख) वद ११ शनिवार दिनांक २३-५-८७ के दिन दूसरे जीवित महोत्सव का प्रारम्भ श्रीमान् पुखराजजी चेलाजी की ओर से हुआ। पहला जीवित महोत्सव कराने वाले शा. जीवराजजी नथमलजी ने (सजोड़े) चतुर्थव्रत-ब्रह्मचर्यव्रत विधिपूर्वक नाण मंडवाकर के पूज्यपाद आचार्य म.सा. की शुभ निश्रा में उच्चरा। उसी दिन शासनप्रभावक पूज्यपाद आचार्य श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वरजी म. सा. की स्वर्गवास तिथि होने से उनकी गुणानुवाद सभा में पूज्यपाद आचार्य म.सा. का तथा पूज्य गणिवर्य श्रीगुणरत्नविजयजी म. का प्रवचन हुआ। बाद में परमपूज्य आचार्यदेव तथा पूज्य गणिवर्य

आदि ने चतुर्विध संघ सहित श्रीमान् पुखराजजी चेलाजी के घर पर पगलियां किये। ज्ञानपूजन एवं मंगलप्रवचन के पश्चात् संघपूजा हुई। दोपहर में पूजा में पधार कर पूज्यपाद आचार्य म. सा. अपने परिवार के साथ विहार कर शाम को **श्रीवरकारणा-तीर्थ** में पधारे और श्रीवरकारणा पार्श्वनाथ प्रभु के दर्शनादि किये।

• ज्येष्ठ (वैशाख) वद १२ रविवार दिनांक २४-५-८७ के दिन प्रातः श्रीवरकाणातीर्थ से विहार कर **'नाडोल'** पधारे। वहाँ पर श्रीसंघ ने पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि का स्वागत किया। प्रवचन के बाद प्रभावना की।

• ज्येष्ठ (वैशाख) वद १३ सोमवार २५-५-८७ के दिन प्रातः नाडोल से विहार कर **नीपलगाँव** में पधारते हुए परमपूज्य आचार्य म. सा. आदि का श्रीसंघ ने स्वागत किया। तथा मंगल प्रवचन के पश्चात् प्रभावना की।

• ज्येष्ठ (वैशाख) वद १४ मंगलवार दिनांक २६-५-८७ के दिन प्रातः नीपल से विहार करके **रामाजी का गुड़ा** पधारे। वहाँ पर परमपूज्य आचार्य गुरुदेव आदि का

श्रीसंघ ने बेन्ड युक्त स्वागत किया। व्याख्यान में संघ पूजा शा. दानमल सम्पतराज की ओर से हुई। दोपहर में जिनमन्दिर में श्री पार्श्वनाथपंचकल्याणक की प्रभावना युक्त पूजा पढ़ाई गई।

• ज्येष्ठ (वैशाख) वद १५ बुधवार दिनांक २७-५-८७ के दिन पूज्यपाद आचार्यभगवन्त आदि **डायलाना** पधारे। मंगलप्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर के कार्य अंगे पुनः श्रीसंघ को पूज्यपाद श्री ने मार्गदर्शन दिया।

१५

बागोल में जैन भवन का उद्घाटन, ७३ वीं ओली का पारणा, बड़ी दीक्षा तथा दशाह्निका-महोत्सव

(१) ज्येष्ठ सुद १ गुरुवार दिनांक २८-५-८७ के प्रातः डायलाना से विहार करके **बागोल गाँव** पधारते हुए शास्त्रविशारद पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद्विजयसुशील-सूरीश्वरजी म. सा. आदि का बेन्ड युक्त स्वागत श्रीमान् रतनचन्दजी दलीचन्दजी कोठारी द्वारा श्रीसंघ ने किया। जिनमन्दिर में दर्शनादि के बाद पूज्यपाद आचार्य म. सा. का मंगल प्रवचन हुआ। बाद में श्री रतनचन्दजी की

ओर से प्रभावना हुई। उसी दिन परमगुरुदेव पूज्यपाद आचार्य म. श्री ने श्री वर्द्धमान तप की ५५ वीं ओली प्रारम्भ की।

(२) ज्येष्ठ सुद २ शुक्रवार दिनांक २९-५-८७ के दिन श्रीमान् रतनचन्दजी दलीचन्दजी कोठारी की ओर से **दशाह्निका-महोत्सव** का प्रारम्भ हुआ। प्रतिदिन व्याख्यान-पूजा-प्रभावना-आंगी-रोशनी तथा रात को भावना का कार्यक्रम चालू रहा। उसी दिन पूज्य शासनसम्राट् समुदाय की आज्ञावर्तिनी तपस्विनी पूज्य साध्वी श्री अभय-प्रज्ञाश्रीजी द्वारा की हुई श्री वर्द्धमान तप की ७२ वीं ओली के पारणा के उपलक्ष में परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद्विजय सुशीलसूरीश्वरजी म. सा. आदि चतुर्विध संघ तथा बेन्ड युक्त बाजते-गाजते शा. रतनचन्दजी दलीचन्दजी के घर पर पगलां हुए। वहाँ पर ज्ञानपूजन एवं मंगल-प्रवचन के पश्चात् संघपूजा हुई। इस पारणा के प्रसंग पर मुम्बई तथा गुजरात-सौराष्ट्र के बोटाद नगर से आये हुए तपस्विनी पूज्य साध्वीजी के संसारी अवस्था के सगे-सम्बन्धियों की ओर से भी संघपूजा हुई। श्रीमान् रतनचन्दजी दलीचन्दजी कोठारी की ओर से निर्मित **'श्रीकंकुबाई जैनभवन'** का उद्घाटन पूज्यपाद आचार्यदेव

की शुभनिश्रा में हुआ। वहाँ पर ही प्रभावना सहित पूजा पढ़ाई गई। उसी दिन न्याती नोहरे में श्रीमान् रतनचंदजी कोठारी की तरफ से स्वामीवात्सल्य भी हुआ।

• जेठ सुद ६ बुधवार दिनांक ३-६-८७ के दिन कुंभस्थापना, अखण्डदीपक तथा जवारारोपण की विधि हुई। पूज्यपाद आचार्य म. सा. तथा पूज्य मुनिराज श्रीजिनोत्तमविजयजी म. इन दोनों के प्रवचन का लाभ श्रीसंघ को मिला।

• जेठ सुद ७ गुरुवार दिनांक ४-६-८७ के दिन नवग्रह-दशदिग्पाल-अष्टमंगल पाटला पूजन की विधि हुई। साथ ही पूज्यपाद आचार्य म. सा., पूज्य मुनिराज श्रीजिनोत्तम-विजयजी म. तथा पूज्य मुनिराज श्रीरविचन्द्रविजयजी म. इन तीनों के व्याख्यान का लाभ श्रीसंघ को मिला।

• जेठ सुद ८ शुक्रवार दिनांक ५-६-८७ के दिन जल-यात्रा का शानदार जुलूस-वरघोड़ा निकाला।

• जेठ सुद ९ शनिवार दिनांक ६-६-८७ के दिन परम-पूज्य आचार्य महाराज सा. की शुभनिश्रा में पूज्य साध्वी श्री गरिमाश्रीजी की शिष्या पूज्य साध्वी श्रीवल्लभ श्रीजी

को शिष्या पूज्य साध्वी श्री पद्मयशाश्रीजी की बड़ी दीक्षा नाणसमक्ष चतुर्विध संघ की उपस्थिति में विधिपूर्वक हुई। बाद में प्रभावना भी हुई। उसी दिन श्रीमान् रतनचन्दजी दलीचन्दजी कोठारी ने **'कंकुबाई जैनभवन'** श्रीसंघ को समर्पित किया। बृहद् शान्ति स्नात्र विधि-पूर्वक पढ़ाया गया और स्वामीवात्सल्य भी किया।

• जेठ सुद १० रविवार दिनांक ७-६-८७ के दिन सत्तरह भेद की पूजा प्रभावना सहित पढ़ाई गई। तथा महोत्सव की पूर्णाहुति हुई।

१६

मगरतालावगाँव में अठारह अभिषेक तथा प्रभुपूजा

ज्येष्ठ सुद ११ सोमवार दिनांक ८-६-८७ के दिन प्रातः बागोल से विहार कर **मगरतालाव गाँव** में पधारते हुए परमपूज्य आचार्य महाराज श्रीमद्विजयसुशील-सूरीश्वरजी म. सा. आदि का श्रीसंघ ने ढोल-थाली द्वारा स्वागत किया तथा प्रवचन के पश्चात् प्रभावना की। दोपहर में जिनमन्दिर में अठारह अभिषेक की विधि हुई और श्रीपार्श्वनाथ पंचकल्याणक की पूजा पढ़ाई गई।

श्रीसंघ ने स्वामीवात्सल्य भी किया। शा. हस्तीमलजी चमनीरामजी के घर पर चतुर्विध संघ सहित बाजते-गाजते पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि पधारे। वहाँ पर ज्ञानपूजन एवं मंगलप्रवचन के बाद संघपूजा हुई।

१७

कोटगाँव में प्रभुपूजा एवं स्वामीवात्सल्य

ज्येष्ठ सुद १२-१३ मंगलवार दिनांक ९-६-८७ के दिन प्रातः मगरतालाव से **कोटगाँव** पधारे। वहाँ पूज्यपाद आचार्य महाराजश्री आदि का ढोल-थाली युक्त श्रीसंघ ने स्वागत किया। जिनमन्दिर में दर्शनादि करके जैनधर्मशाला में पधारे। वहाँ पर मंगलप्रवचन हुआ। दोपहर में प्रभावनायुक्त प्रभु पूजा का कार्यक्रम रहा। तथा दो टंक का स्वामीवात्सल्य भी हुआ।

१८

ज्येष्ठ सुद १४ बुधवार दिनांक १०-६-८७ के दिन प्रातः कोटगाँव से विहार द्वारा **पनोतागाँव** पधारते हुए पूज्यपाद आचार्य म.सा. आदि का ढोल-थाली युक्त स्वागत किया। जिनमन्दिर में दर्शनादि करने के बाद शा. बाबूलाल चौथमलजी सरपंच के घर पर पगलां किये।

वहाँ पर ज्ञानपूजन एवं मंगलप्रवचन के पश्चात् प्रभावना हुई। दोपहर में श्रीपार्श्वनाथ पंचकल्याणक की पूजा प्रभावना सहित पढ़ाई गई।

१९

ज्येष्ठ सुद १५ गुरुवार दिनांक ११-६-८७ के दिन प्रातः पनोता से विहार कर पूज्यपाद आचार्य म.सा. आदि **जोजावर गाँव** पधारे। वहाँ पर उनका श्रीसंघ ने बेन्ड युक्त स्वागत किया। तथा प्रवचन के पश्चात् प्रभावना की गई। वर्षीतप वाली दो बहिनों के घर पर पूज्यपाद आचार्य म.सा. ने चतुर्विध संघ और बेन्ड समेत पगलियां किये। वहाँ पर ज्ञानपूजन एवं मंगलप्रवचन के बाद प्रभावना हुई। दोपहर में जिनमन्दिर में शा. वृद्धिचन्दजी घीसूलालजी की तरफ से ९९ प्रकारी पूजा पढ़ाई गई।

२०

(१) आषाढ़ (जेठ) वद १ शुक्रवार दिनांक १२-६-८७ के दिन जोजावर से विहार कर **धनला गाँव** पधारे। वहाँ पर श्रीसंघ ने मरुधर देशोद्धारक पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजयसुशीलसूरीश्वरजी म. सा. आदि

का बेन्ड युक्त स्वागत किया। जिनमन्दिर में दर्शनादि करने के बाद श्री जैन उपाश्रय में परमपूज्य आचार्य म. सा. का प्रवचन हुआ। उसी समय व्याख्यान में शा. पारसमल अनराजजी मेहता की तरफ से संघपूजा हुई। दूसरी संघपूजा शा. मूलचन्द पन्नालालजी देसरला की ओर से हुई। दोपहर में जिनमन्दिर में प्रभावना सहित पूजा पढ़ाई गई। उसी दिन स्वामीवात्सल्य भी हुआ।

(२) आषाढ़ (जेठ) वद २ शनिवार दिनांक १३-६-८७ के दिन प्रातः पूज्यपाद आचार्य म. सा. का प्रवचन हुआ। प्रभावना हुई। बाद में शा. पारसमल अनराजजी मेहता के घर पर तीर्थप्रभावक परमपूज्य आचार्य म.सा. चतुर्विध संघ सहित बाजते-गाजते पधारे। वहाँ पर ज्ञानपूजन और मंगलप्रवचन हुआ। उसी समय पूज्यपाद आचार्य म. सा. के सदुपदेश से '**श्रीराणकपुरजी पंचतीर्थी**' का पैदल संघ अपनी ओर से निकालने की शा. पारसमलजी मेहता ने प्रतिज्ञा की। बाद में प्रभावना हुई। दोपहर में जिनमन्दिर में पूजा पढ़ाई गई और प्रभावना भी हुई।

(३) आषाढ़ (ज्येष्ठ) वद ३ रविवार दिनांक १४-६-८७ के दिन प्रातः पूज्यपाद आचार्य म. सा. का

व्याख्यान हुआ तथा प्रभावना हुई। बाद में जैनधर्म-दिवाकर पूज्यपाद आचार्य भगवन्त चतुर्विध संघ सहित बाजते-गाजते शा. बस्तीमल पन्नालालजी दसेला के घर पर पधारे। वहाँ पर भी ज्ञानपूजन हुई तथा मंगलप्रवचन हुआ। उसी समय परमपूज्य आचार्य म. सा. के सदुपदेश से शा. बस्तीमलजी तथा शा. बाबूमलजी बन्ने भाइयों की तरफ से **'श्रीउपधानतप'** कराने की प्रतिज्ञा की गई। तदुपरान्त—शा. बस्तीमलजी की ओर से नूतन चौदह स्वप्न तथा प्रभु का पारणा कराने की जाहेरात हुई। शा. बाबूलालजी की तरफ से मूलनायक आदि तीनों भगवान की नूतन आंगियाँ कराने की जाहेरात हुई। बाद में संघपूजा हुई। श्रीसंघ में अत्यन्त आनंद प्रवर्त्ता।

२१

(१) आषाढ़ (ज्येष्ठ) वद ४ सोमवार दिनांक १५-६-८७ के दिन प्रातः धनला से विहार द्वारा **देवलीगाँव** पधारे। वहाँ पर श्रीसंघ की तरफ से ढोल-थाली युक्त परमपूज्य आचार्य म. सा. आदि का स्वागत हुआ। जिनमन्दिर में दर्शनादि किये तथा जैन उपाश्रय में व्याख्यान हुआ। बाद में प्रभावना हुई। दोपहर में जिनमन्दिर में प्रभावना युक्त पूजा हुई।

(२) आषाढ़ (ज्येष्ठ) वद ५ मंगलवार दिनांक १६-६-८७ के दिन प्रातः पूज्यपाद आचार्यदेव का प्रवचन हुआ। बाद में श्रीमान् सोहनराज जोधराजजी धोका के घर पर परमपूज्य आचार्य म. सा. चतुर्विध संघ सहित बाजते-गाजते पधारे। वहाँ पर ज्ञानपूजन एवं मंगल-प्रवचन के पश्चात् संघपूजा हुई। उसी माफिक श्रीमान् पारसमल प्रेमराजजी गादिया के घर पर भी पूज्यपाद आचार्यदेव पधारे। वहाँ पर भी ज्ञानपूजन एवं मंगल-प्रवचन के बाद संघपूजा हुई।

(३) आषाढ़ (ज्येष्ठ) वद ६-७ बुधवार दिनांक १७-६-८७ के दिन शास्त्रविशारद–साहित्यरत्न–कविभूषण पूज्यपाद आचार्य म.सा. का मंगल प्रवचन हुआ। बाद में पूज्यपादश्री ने श्रीसंघ को जिनमन्दिर के सम्बन्ध में मार्गदर्शन दिया।

• आषाढ़ (ज्येष्ठ) वद ८ गुरुवार दिनांक १८-६-८७ के दिन प्रातः देवली से विहार द्वारा **आहुवागाँव** पधारे। वहाँ पर पूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि ने जिनमन्दिर में दर्शनादि किये। बाद में श्रीसंघ को मांगलिक सुनाया।

• आषाढ़ (ज्येष्ठ) वद ९ शुक्रवार दिनांक १९-६-८७

के दिन प्रातः आहुवागाँव से विहार कर **मारवाड़ जंक्शन** पधारे। जिनमन्दिर में दर्शनादि किये। तथा जैन धर्मशाला में स्थिरता की। बाद में स्थानक में पूज्यपाद आचार्य म. सा. का और पूज्य मुनिराज श्री जिनोत्तम-विजयजी म. का व्याख्यान हुआ। दशमी के दिन भी स्थानक में परमपूज्य आचार्य म. सा. का प्रवचन हुआ।

• आषाढ़ (ज्येष्ठ) वद ११ रविवार दिनांक २१-६-८७ के दिन मारवाड़ जंक्शन से प्रातः विहार कर **सोजतसिटी** पधारे। वहाँ राजस्थान दीपक परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजयसुशीलसूरीश्वरजी म. सा. आदि का श्रीसंघ ने बेन्ड युक्त स्वागत किया। जिनमन्दिर में दर्शनादि करके जैन उपाश्रय में पधारे। तीन दिन की स्थिरता की। उसमें ग्यारस, बारस और तेरस तीनों दिन पूज्यपाद आचार्य म. सा. के प्रभावपूर्ण प्रवचन का लाभ श्रीसंघ को सुन्दर मिला।

• आषाढ़ (ज्येष्ठ) वद दूसरी १३ बुधवार दिनांक २४-६-८७ के दिन प्रातः सोजतसिटी से विहार कर **सोजतरोड** पधारे। वहाँ पर शासनरत्न परम पूज्य आचार्य म. सा. आदि का श्रीसंघ ने बेन्ड युक्त स्वागत

किया। जिनमन्दिर में दर्शनादि किये। बाद में पूज्यपाद आचार्य म. सा. का प्रवचन हुआ। उसमें शा. हस्तीमलजी हीराचन्दजी गुन्देचा की ओर से संघपूजा हुई। श्रीआदीश्वरजी भगवान के मन्दिर में तीर्थों के पट्टादिक की योजना के सम्बन्ध में परम पूज्य आचार्य म. सा. ने श्रीसंघ को सुन्दर मार्गदर्शन दिया।

• आषाढ़ (ज्येष्ठ) वद १४ गुरुवार दिनांक २५-६-८७ के दिन प्रातः सोजतरोड से विहार कर **बगड़ीगाँव** पधारे। जिनमन्दिर में दर्शनादि किये। स्थानक में स्थिरता की और श्रीसंघ को पूज्यपाद आचार्य म. सा. ने व्याख्यान सुनाया।

• आषाढ़ (ज्येष्ठ) वद ●))शुक्रवार दिनांक २६-६-८७ के दिन प्रातः बगड़ी से विहार कर **मुंडावा गाँव** में आये। जिनमन्दिर के दर्शनादि करके **चंडावल गाँव** पधारे। वहाँ पर जिनमन्दिर में दर्शनादि करके स्थानक में स्थिरता की।

• आषाढ़ सुद १ शनिवार दिनांक २७-६-८७ के दिन प्रातः चंडावल से **देवलीगाँव** पधारे। वहाँ पर भी जिनमन्दिर में दर्शनादि किये। बाद में स्थानक में स्थिरता की।

• आषाढ़ सुद २ रविवार दिनाक २८-६-८७ के दिन प्रातः देवली से विहार करके **चाउंडिया गाँव** पधारे। वहाँ पर भी जिनमन्दिर में दर्शनादि किये। बाद में स्थानक में स्थिरता की।

• आषाढ़ सुद ३ सोमवार दिनांक २९-६-८७ के दिन प्रातः चाउंडिया से विहार करके **खुशालपुरा** में पधारे। श्रीसंघ ने स्वागत किया। वहाँ पर जिनमन्दिर में दर्शनादि किये। बाद में जैन उपाश्रय में स्थिरता की। वहाँ दोपहर में पूज्यपाद आचार्य म. सा. का व्याख्यान हुआ। तथा श्रीसंघ को जिनमन्दिर की शुद्धि अंगे तथा कलश चढ़ाने के बारे में मार्गदर्शन दिया।

• आषाढ़ सुद ४ मंगलवार दिनांक ३०-६-८७ के दिन प्रातः खुशालपुरा से विहार करके **नीमाजगाँव** पधारे। श्रीसंघ ने स्वागत किया। वहाँ पर जिनमन्दिर में दर्शनादि करने के बाद, जैन उपाश्रय में परमपूज्य आचार्य म. सा. का प्रवचन हुआ। प्रांते सर्वमंगल के पश्चात् प्रभावना हुई।

• आषाढ़ सुद ५ बुधवार दिनांक १-७-८७ के दिन प्रातः नीमाज से विहार करके **जैतारण** के बाहर आँखों के अस्पताल के स्थान में पधारे। वहाँ पर स्थिरता की।

• आषाढ़ सुद ६ गुरुवार दिनांक २-७-८७ के दिन प्रातः जैतारण से विहार करके **बांजापुरा** पधारे। वहाँ पर स्थिरता की।

• आषाढ़ सुद ७ शुक्रवार दिनांक ३-७-८७ के दिन प्रातः बांजापुरा से विहार करके **आनंदपुर कालूगाँव** पधारे। श्रीसंघ ने स्वागत किया। जिनमन्दिर में दर्शनादि किये। बाद में स्थानक में स्थिरता की। पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद्विजयसुशीलसूरीश्वरजी म. सा. ने प्राचीन जिनमन्दिर के जीर्णोद्धार कराने में श्रीसंघ के कार्यकर्त्ताओं को मार्गदर्शन दिया और पुनः प्रतिष्ठा कराने को कहा। उसी समय श्रीसंघ के कार्यकर्त्ताओं ने इसे सानंद स्वीकार किया। आषाढ़ सुद आठम के दिन प्रातः विहार द्वारा पुनः **बांजापुरा** पधारे।

• आषाढ़ सुद ६ रविवार दिनांक ५-७-८७ के दिन प्रातः बांजापुरा से विहार करके जैतारण नगर की दादावाड़ी में स्थित श्रीधर्मनाथ जिनमन्दिर में मूलनायक श्रीधर्मनाथ आदि जिनेश्वरदेवों की मूर्तियों आदि का दर्शनादि करके श्रीमरुधर केसरी जैनछात्रावास-पावनधाम में परमशासन-प्रभावक-जैनधर्मदिवाकर-राजस्थानदीपक-मरुधरदेशोद्धारक-परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद्विजयसुशीलसूरीश्वरजी म. सा.

आदि मुनि समुदाय तथा पूज्य साध्वी श्रीरयणयशाश्रीजी आदि एवं पूज्य साध्वी श्री अभयप्रज्ञाश्रीजी आदि साध्वी समुदाय पधारे। वहाँ पर छात्रावास के कार्यकर्त्ताओं ने तथा छात्रावास के विद्यार्थियों ने परमपूज्यपाद आचार्य म. सा. आदि सबका सानंद स्वागत किया। बाद में शास्त्रविशारद-साहित्यरत्न-कविभूषण पूज्यपाद आचार्य म. सा. का मांगलिक प्रवचन हुआ। उस दिन सबकी स्थिरता पावन धाम में रही।

विधिकारक

दिनांक
६-७-८७

मनोजकुमार
बाबूमलजी हरण
सिरोही, राजस्थान।

प्रातःस्मरण

लब्धिवन्त गौतम गणधार,
बुद्धिए अधिका अभयकुमार।
प्रह उठीने करी प्रणाम,
शियलवन्तना लीजे नाम ॥ १ ॥

पहेला नेमि जिनेश्वर राय,
बालब्रह्मचारी लागुं पाय।
बीजा जम्बुकुमार महाभाग,
रमणी आठनो कीधो त्याग ॥ २ ॥

त्रीजा स्थूलिभद्र साधु सुजाण,
कोश्या प्रतिबोधी गुणखाण।
चोथा सुदर्शन शेठ गुणवन्त,
जेणे कीधो भवनो अन्त ॥ ३ ॥

पांचमा विजयशेठ नरनार,
शियल पाजी उतर्या भवपार।
ए पांचे ने विनति करे,
भवसायर ते व्हेला तरे ॥ ४ ॥

मंगलं भगवान् वीरो,
मंगलं गौतमप्रभुः।
मंगलं स्थूलिभद्राद्या,
जैनो धर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥ ५ ॥

सर्वारिष्टप्रणाशाय,
सर्वाभिष्टार्थदायिने।
सर्वलब्धिनिधानाय,
गौतमस्वामिने नमः ॥ ६ ॥ 卐

पुस्तक-प्राप्ति स्थान

१. आचार्य श्री सुशील सूरिजी जैन ज्ञानमन्दिर
शान्तिनगर, मु. सिरोही–३०७ ००१ (राज.)

२. श्री अरिहंत–जिनोत्तम जैन ज्ञानमन्दिर
मल्लियों की शेरी, मु. जावाल
जि. सिरोही (राज.)

३. श्री नेमिनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ
अम्बाजीनगर, सांडेराव रोड
मु. फालना–३०६ ११६
जि. पाली (राज.)

卐 जैनं जयति शासनम् 卐

आ. श्री सुशीलसूरिजी जैन ज्ञानमंदिर

सिरोही राज.

नमो नाणस्स

ताज प्रिण्टर्स, जोधपुर